● प्रकाशक—

रामचन्द्र जैन, एम. ए. [illegible]

मन्त्री—

पी. ए. रिसर्च इन्स्टीट्यूट

होशियारपुर (पंजाब)

● प्रधान कार्यालय का पता—

प्रकाशचन्द्र जैन, C/o कृपाराम हंसराज जैन

गुड़ मण्डी, लुधियाना (पंजाब)

● प्रकाशन-काल—

वीर सम्वत् २४९२, ई० १९६६

भाद्रपद पूर्णिमा

● मूल्य—रु० ४-२५

● मुद्रक—

श्री देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,

वी. वी. आर. आई. प्रेस,

साधु आश्रम, होशियारपुर ।

'पाइअ-सद्द-महण्णवो' कोष के कर्ता पण्डित

हरगोविन्द दास जी के विचार

प्राकृत का विशाल साहित्य-भण्डार विविध-विषयक ग्रन्थ-रत्नों से पूर्ण होने पर भी आजतक वह यथेष्ट रूप में प्रकाशित ही नहीं हुआ है और हस्त-लिखित पुस्तकें तो बहुधा अज्ञान लेखकों के हाथ से लिखी जाने के कारण प्रायः अशुद्ध ही हुआ करती हैं; परन्तु आजतक जो प्राकृत की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे भी, न्यूनाधिक परिमाण में, अशुद्धिओं से ख़ाली नहीं हैं। अलबत्ता, यूरोप की और इस देश की कुछ पुस्तकें ऐसी उत्तम पद्धति से छपी हुई हैं कि जिन में अशुद्धियां बहुत ही कम हैं, और जो कुछ रह भी गई हैं वे उन में टिप्पनी में दिये हुए अन्य प्रतिओं के पाठान्तरों से सुधारी जा सकती हैं। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसे संस्करणों की संख्या बहुत ही अल्प-नगण्य है। सचमुच, यह बड़े खेद की बात है कि भारतीय और खास कर हमारे जैन विद्वान् प्राचीन पुस्तकों के संशोधन में अधिक हस्त-लिखित पुस्तकों का उपयोग करने की और उन के भिन्न भिन्न पाठों को टिप्पनी के आकार में उद्धृत करने की तकलीफ़ ही नहीं उठाते। इस का नतीजा यह होता है कि संशोधक की बुद्धि में जो पाठ शुद्ध मालूम होता है वही एक, फिर चाहे वह वास्तव में अशुद्ध ही क्यों न हो, पाठकों को देखने को मिलता है। प्राकृत के इतर मुद्रित ग्रन्थों की तो यह दुर्दशा है ही, परन्तु जैनों के पवित्रतम और अति प्राचीन आगम-ग्रन्थों की भी यही अवस्था है। कई वर्षों के पहले मुर्शिदाबाद के प्रसिद्ध धन-कुबेर राय धनपति सिंह जी बहादुर ने अनेक आगम-ग्रन्थ भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न संशोधकों से संपादित करा कर छपवाए थे जिनमें अधिकांश अज्ञान संशोधकों से सम्पादित होने के कारण खूब ही अशुद्ध छपे थे। किन्तु अभी कुछ ही वर्ष हुए हमारी आगमोदय-समिति ने अच्छा फंड एकत्रित करके भी

जे किर भवसिद्धिया, परित्त-संसारिआ य भविआ य ।
ते किर पढंति धीरा, छत्तिसं उत्तरज्झयणे ॥

—आचार्य भद्रबाहु स्वामी

जो भवसिद्धिक जीव शीघ्र ही मुक्ति पाने वाले हैं, जिन का संसार-भ्रमण बहुत थोड़ा रह गया है, ऐसे भव्य आत्मा ही उत्तराध्ययन सूत्र का भावपूर्वक अध्ययन करते हैं।

जे किर भवसिद्धिया, परित्त-संसारिआ य भविआ य ।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥

—आचार्य भद्रबाहु स्वामी

जो भवसिद्धिक जीव शीघ्र ही मुक्ति पाने वाले हैं, जिन का संसार-भ्रमण बहुत थोड़ा रह गया है, ऐसे भव्य आत्मा ही उत्तराध्ययन सूत्र का भावपूर्वक अध्ययन करते हैं।

जे किर भवसिद्धिया, परित्त-संसारिआ य भविआ य।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥

—आचार्य भद्रबाहु स्वामी

जो भवसिद्धिक जीव शीघ्र ही मुक्ति पाने वाले हैं, जिन का संसार-भ्रमण बहुत थोड़ा रह गया है, ऐसे भव्य आत्मा ही उत्तराध्ययन सूत्र का भावपूर्वक अध्ययन करते हैं।

जे किर भवसिद्धिया, परित्त-संसारिआ य भविआ य ।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥

—आचार्य भद्रबाहु स्वामी

जो भवसिद्धिक जीव शीघ्र ही मुक्ति पाने वाले हैं, जिन का संसार-भ्रमण बहुत थोड़ा रह गया है, ऐसे भव्य आत्मा ही उत्तराध्ययन सूत्र का भावपूर्वक अध्ययन करते हैं।

मिथ्यात्व विषय कषायादि संयोगों से प्रकृष्टरूपेण विशेष रूप से रहित, 'घर-बार के त्यागी एवं माधुकरी वृत्ति से भिक्षा द्वारा शरीर-निर्वाह करने वाले हैं। अतः मुझ से वह विनय—सभ्यता, अनुशासन (discipline) क्रमपूर्वक सुनो।

२. आणा-निद्देसकरे, गुरूणमुववाय-कारए।
इंगियागार-संपन्ने, स विणीए त्ति वुच्चइ ॥

छाया— आज्ञा-निर्देशकरः, गुरूणामुपपातकारकः।
इङ्गिताकारसम्पन्नः, स विनीत इत्युच्यते ॥

अर्थ—जो गुरु की आज्ञा को 'तहत्ति' ऐसा कह कर धारण एवं पालन करने वाला है, गुरु की दृष्टि के अन्दर—समीप रहता है और गुरु की भ्रकुटि अङ्गुलि आदि के संकेत एवं शरीर की आकृति—मुद्रा के ज्ञान से युक्त है अर्थात् उन के मनोभाव भली प्रकार जान कर कार्य करने वाला है, वह 'विनयवान् है' ऐसा कहा जाता है।

[गाथा २] आणाणिद्देसकरे—उ। संपण्णे—उ। वुच्चई—अ, इ, ऋ।

†. इतः स्वरात् तश्च द्विः ॥८।१।४२॥ हे० ॥ इति सूत्रेण पदात् परस्य इतेरादेर्लुग् भवति स्वरात् परश्च तकारो द्विर्भवति ॥

‡. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः; पदान्तस्य तु विकल्पेन ॥ पा० ॥

बोलने वाला तथा ऐसा विपरीत आचरण करने वाला सभी जगह अपमानित होता है।

५. कण-कुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥

छाया— कण-कुण्डकं त्यक्त्वा विष्ठां भुङ्क्ते शूकरः।
एवं शीलं त्यक्त्वा, दुःशीले रमते मृगः॥

अर्थ—जिस प्रकार सूअर चावलों के कुण्ड को छोड़ कर विष्ठा खाता है उसी प्रकार मृग पशु समान अज्ञानी जीव सद् आचरण को छोड़ कर दूषित आचरण में आनन्द मानता है।

६. सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो॥

छाया— श्रुत्वा भावं शुनः, शूकरस्य नरस्य च।
विनये स्थापयेदात्मानम्, इच्छन् हितमात्मनः॥

अर्थ—कुतिया और सूअर के समान अविनीत पुरुष की

[गाथा ५] कुण्डगं—अ, इ, ऋ, लृ। भुञ्जइ—इ। सूयरो—इ, उ। रमई—अ, इ, ऋ।

[६] सुणियाभावं—ऋ। ठविज्ज—उः ठवज्ज—ऋ। इच्छन्तो—इ।

§. ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ॥८।१।२५॥ हे० ॥ व्यञ्जने परे अनुस्वारः॥

£. अत एत्सौ पुंसि मागध्याम् ॥८।४।२८७॥ हे० ॥

†. ज्ञा-ज्जे ॥८।३।१५९॥ हे० ॥ इति सूत्रेण एत्वम्॥

८. निसंन्ते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठ-जुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए॥

छाया— निशान्तः स्यादमुखरिः, बुद्धानामन्तिके सदा।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत, निरर्थानि तु वर्जयेत्॥

अर्थ— 'हर समय उपशान्त रहे, वाचालता का त्याग करे और सदैव ज्ञानियों के समीप रह कर ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्षार्थ—आगमों का अभ्यास करे किन्तु निरर्थक—लौकिक विद्याओं का त्याग करे।

९. अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए॥

[गाथा ८] णिसन्ते—उ। निस्सन्ते—ऋ।
[गाथा ९] खन्ति—द; खांति—ऋ। संसग्गि—लृ। कीड्डं—द। य—उ।
पण्डिए—अ, द, ऋ, लृ।

S. ह्रस्वः संयोगे ॥८।१।८४॥ हे० ॥
५. मांसादिष्वनुस्वारे ॥८।१।७०॥ हे० ॥ इति सूत्रेण क्षान्तेराकारस्य अकारः॥
६. दकारो लाक्षणिकः यथा—
पुण्णं चिय नेच्छंति माहवो सज्जणेहिं संसग्गिं।
जम्हा विओग-विहुरिय-हिययस्स न ओसहं अन्नं॥
—सुरसुंदरी-चरिअ २,२१६॥
पाठान्तरेण संसग्गि इति पाठे, अत इदेतौ लुक् च ॥११।१०॥ मागध्यामाकारा निषिद्धमिति इकारः सौ पुंसः ॥—महामुनि-वररुचिः प्राकृत-प्रकाशे॥

अर्थ—गुरु की आज्ञा को [1]अनसुनी करने वाले—नहीं मानने वाले, [2]कठोर वचन बोलने वाले, [3]कुत्सित आचार वाले [4]शिष्य, [5]शान्त स्वभावी गुरु को [6]भी [7]क्षुब्ध [8]बना देते हैं और गुरु की [9]मनोवृत्ति के अनुसार चलने वाले, आज्ञा का विलम्ब रहित [10]शीघ्रता से तथा [11]दक्षता पूर्वक पालन करने वाले विनीत [12]शिष्य [13]निश्चय ही [14]उग्र स्वभावी गुरु को [15]भी शान्त ही नहीं अपितु [16]प्रसन्न कर लेते हैं।

१४. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं॥

छाया— नापृष्टो व्यागृणीयात् किञ्चित्, पृष्टो वा नालीकं वदेत्।
क्रोधमसत्यं कुर्यात्, धारयेत् प्रियमप्रियम्॥

अर्थ—विनीत शिष्य [1]बिना पूछे [2]कुछ भी [3]नहीं [4]बोले, [5]पूछने पर [6]असत्य [7]नहीं [8]बोले। यदि कभी [9]क्रोध उत्पन्न हो जाए तो उसे [10]निष्फल [11]बना दे। गुरु के वचन चाहे [12]प्रिय लगें अथवा [13]अप्रिय उन्हें हितकारी समझ कर समभाव पूर्वक [14]धारण करे।

[१४] कुव्विज्जा—? । धारेज्जा—अ, इ, ऋ, लृ।

१. [illegible] ॥८।१।१०१॥ हे० ॥ इति सूत्रेण [illegible] [illegible] ॥

६. [illegible] ।३।१८० ॥ पा० ॥

१७. पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि ॥

छाया— प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा ।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदाचिदपि ॥

अर्थ—[1]वाणी से [2]अथवा [3]कर्म से, [4]गुप्तरूप में [5]यदि वा [6]प्रकटरूप में, गुरु [7]ज्ञानियों का [8]विरोध [9]सर्वथा [10]कभी [11]भी [12]न [13]किया जावे ।

गुरुजनों के पास बैठने की विधि—

१८. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाणं पिट्ठओ ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥

छाया— न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः ।
न युञ्जीतोरुणोरुं, शयने नो प्रतिश्रृणुयात् ॥

अर्थ—[1]सेवनीय गुरुजनों के [2]बराबर [3]न बैठे, [4]आगे होकर [5]न बैठे (जिस से गुरुजनों की ओर पीठ हो) गुरुजनों की दृष्टि से ओझल होकर [6]पीठपीछे [7]भी [8]न बैठे । सन्मुख भी इतना समीप होकर [9]न बैठे कि जिस से गुरुजनों के [10]घुटने से अपना [11]घुटना [12]स्पर्श करे । गुरुजनों के बुलाने पर [13]संस्तारक पर से ही [14]प्रत्युत्तर [15]न दे ।

---

[१७] पडणीयं—अ । य—उ । रहसे—इ । णेव—उ । कया-इवि—अ, उ, ऋ ।

[१८] ण—उ । णेव—उ । जुंजे—इ । ण—उ ।

अर्थ—[1]गुरु की प्रसन्नता—कृपा [2]चाहने वाला, [3]निरन्तर समाधि का कांक्षी प्रथम तो [4]सदा [5]गुरु के [6]निकट [7]बैठे, यदि स्वाध्यायादि के लिये कुछ दूरी पर बैठना पड़े तो [8]आचार्यरूप गुरुदेव के [9]बुलाने पर [10]कभी [11]भी [12]चुपचाप [13]न रहे, तत्काल 'तहत्ति' कह कर उन के पास आवे।

२१. आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जुत्तं पडिस्सुणे॥

छाया— आलपति लपति वा, न निषीदेत् कदाचिदपि।
त्यक्त्वासनं धीरो, यतो युक्तं प्रतिशृणुयात्॥

अर्थ—गुरुदेव के [1]धीमे स्वर से [2]अथवा पूरे स्वर से [3]बुलाने पर [4]कभी [5]भी वहीं पर [6]न [7]बैठा रहे, वारम्वार उठने का कष्ट न मानते हुए [8]धैर्य धारण करने वाला [9]विवेकशील शिष्य [10]आसन [11]छोड़ कर अपने गुरुदेव के पास आए और उन की बात को [12]ध्यानपूर्वक [13]सुने।

---

[२१] आलवंते लवंते—उ । ण—उ । णिसीएज्ज—उ ।
कयाइवि—अ, ऋ । चइत्ता—उ । जत्तं—अ, उ, ऋ, ल ।

†. आ ईषदर्थे ।

‡. वर्गेऽन्त्यो वा ॥८।१।३०॥ हे० ॥ नित्यमिच्छन्त्यन्ये ॥ पक्षे ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ॥८।१।२५॥ हे० ॥ इति सूत्रेण अनुस्वारः ॥

§. प्राकृतशैल्या मकारोऽलाक्षणिकः ।

भिक्षुओं का आचार—

२४. मुसं परिहरे भिक्खू, न य ओहारिणिं वए।
भासा-दोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया॥

छाया— मृषां परिहरेद् भिक्षुः, न चावधारिणीं वदेत्।
भाषादोषान् परिहरेत्, मायाञ्च वर्जयेत् सदा॥

अर्थ—[1]साधक अपने वार्तालाप में [2]असत्य वचन (अतिशयोक्ति) [3]सर्व प्रकार से [4]छोड़े [5]और [6]निश्चयकारिणी भाषा [7]न [8]बोले अन्य भी अनेकों [9]भाषा के [10]दोषों को [11]ध्यानपूर्वक [12]दूर करे, [13]तथा [14]माया-युक्त (पालीसी वाली) भाषा को [15]प्रत्येक स्थिति में [16]छोड़े।

२५. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥

छाया— न लपेत् पृष्टः सावद्यं, न निरर्थं न मर्मकं।
आत्मार्थी परार्थी वा, उभयस्यान्तरेण वा॥

अर्थ—किसी के [1]पूछने पर भी [2]अपने लिये [3]अथवा [4]दूसरे के लिये [5]पापकारी, [6]निरर्थक और [7]मर्मभेदी भाषा [8]तथा बातें करते [9]दो के [10]बीच [11]न [12]बोले।

---

[२४] ण—उ। ओहारिणीं—उ, ऋ।

[२५] ण—उ। लविज्ज—उ। णिरट्ठं—उ। उभयस्सऽन्तरेण—इ।

†. ह्रस्वोमि ॥८।३।३६॥ हेम० ॥ स्त्रीलिङ्गस्य ॥

‡. अन्तरेणाऽन्तर्विनार्थयोः—आचार्यः श्रीहेमचन्द्रोऽनेकार्थसङ्ग्रहस्य परिशिष्टकाण्डे ६७ ॥

२८. अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं[8] तं[7] मण्णइ[9] पण्णो[6], वेसं[11] होइ[12] असाहुणो[10]॥

छाया— अनुशासनमौपायं, दुष्कृतस्य च चोदनम्।
हितं तन्मन्यते प्राज्ञः, द्वेष्यं भवत्यसाधोः॥

अर्थ—गुरुजनों की [1]शिक्षा आत्मशुद्धि का [2]उपाय बताने वाली [3]एवं [4]दुष्कृतों को [5]दूर करने वाली होती है, [6]बुद्धिमान् शिष्य [7]उसे अपने लिये [8]हितकारी [9]समझता है किन्तु वही शिक्षा [10]असाधु के लिये [11]द्वेष का कारण [12]होती है।

---

[२७] जम्मो—इ। बुद्धाणुसासन्ति—अ, ऋ। बुद्धाणुसासंति—उ। लाहो—इ, ल। लाभुत्ति—उ।

[२८] मण्णई—अ, इ, ऋ; मण्णए—उ। वेस्सं—उ।

३७. रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलिय(ऽ)स्सं व वाहए॥

छाया— रमते पण्डितान् शासन्, हयं भद्रमिव वाहकः।
बालं श्राम्यति शासन्, गलिताश्वमिव वाहकः॥

अर्थ—भद्र जाति के उत्तम घोड़े को चलाते समय जैसे सारथि † प्रसन्न होता है इसी प्रकार समझदार शिष्यों को शिक्षा देते समय गुरु को आनन्द प्राप्त होता है। इस के विपरीत गलित जाति के दुष्ट अश्व को चलाते हुए जैसे सारथि खेदित होता है इसी प्रकार बेसमझ शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु थँक-सा—हतोत्साह हो जाता है।

---

[३७] पण्डिए—अ. इ, ल। सासन्तो—इ।

†. सह रथेन सरथः (घोटक) तत्र नियुक्तः+इञ्=सारथिः॥

इस व्यवहार का आचरण करते हुए (गुरुदेवों से क्षमा मांगते हुए एवं अपनी भूल स्वीकार करते हुए) कोई निन्दा को प्राप्त नहीं होता।

४३. मणो-गयं वक्क-गयं, जाणित्ताऽऽयरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए॥

छाया— मनोगतं वाक्यगतं, ज्ञात्वाऽऽचार्यस्य तु।
तं परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत्॥

अर्थ—आचार्य महाराज के मन के भावों को जान कर और उन के कहने का आशय समझ कर, उन के आदेश को अपने वचन से स्वीकार करे और उसे कार्यरूप में परिणत करे।

प्रकरण का उपसंहार—

४४. वित्ते अचोइए णिच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
[illegible]॥

गुरुं वंदित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्ख-विमोक्खणं ।

—भगवान् महावीर

छाया—श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्। इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा ज्ञात्वा जित्वाऽभिभूय भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो न विनिहन्येत।

अर्थ—हे आयुष्मन् शिष्य! यह कहा जाने वाला विषय मैंने उन (जो अब पार्थिव शरीर से विद्यमान नहीं हैं) तीर्थंकर भगवान् से सुना है। अतः ये परिगणित बाईस परीषह काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किये हैं, जिन्हें सुन कर, समझ कर, विजय प्राप्त करके—सम्यक् सहन करके और पूर्णरूपेण इनका निराकरण करके भिक्षाचर्या द्वारा विहरण करने वाले साधक को किसी समय कोई परीषह आन पड़े तो वह उत्पीडित न होवे, अपितु समभाव बनाए रखे।

आर्य जम्बु स्वामी—

कयरे खलु£ ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा णच्चा जिच्चा अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयंतो पुट्ठो णो विणिहण्णेज्जा ?

मुच्चा— ट, ऋ।

£. निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु—अमरकोष ॥३।३।२५५॥
............खलु वीप्सानिषेधयोः ॥
जिज्ञासायामनुनये वाक्यालङ्करणेऽपि च। —हैमानेकार्थसङ्ग्रह ७।५३,५४॥

अर्थ—ये अब बताए जाने वाले बाईस परीषह काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किये हैं, जिन्हें सुन कर विचार कर और आचरण करके तथा उनका भली प्रकार निराकरण करके फिर भी भिक्षाचर्या द्वारा जीवन-यापन करते हुए साधक को उन में से कोई परीषह स्पर्शित हो जाए तो वह क्षुभित न होवे। वे बाईस परीषह इस प्रकार हैं—

१. दिगिंछा-परीसहे, २. पिवासा-परीसहे, ३. सीय-परीसहे, ४. उसिण-परीसहे, ५. दंस-मसग†-परीसहे, ६. अचेल-परीसहे, ७. अरइ-परीसहे, ८. इत्थी-परीसहे, ९. चरिया-परीसहे, १०. निसीहिया-परीसहे, ११. सेज्जा-परीसहे, १२. अक्कोस-परीसहे, १३. वह-परीसहे, १४. जायणा-परीसहे, १५. अलाभ-परीसहे, १६. रोग-परीसहे, १७. तण-फास-परीसहे, १८. जल्ल-परीसहे,

दंसमसय—अ, इ, ऋ, लृ।

†. अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः ॥८।४।३९६॥ हे०॥

अनादेरसंयुक्तस्य कस्य गः ॥३।३।६९॥ जैनसिद्धान्तकौमुद्यां शतावधानी श्रीरत्नचन्द्रो जैनमुनिः ॥

‡. अदेर्यो जः ॥८।१।२४५॥ हे० ॥

१. परीसहाणं पविभत्ती, कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

छाया—परीषहाणां प्रविभक्तिः, काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां युष्मान् उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥

[गाथाङ्क १] पविभत्ति—त्तिः ।

†. अक्लीबे सौ ॥८।३।१९॥ हे० ॥ इदुतो दीर्घः ॥

‡. वो तुज्झ तुब्भे तुम्हे उय्हे भे जसा ॥८।३।९१॥ हे० ॥ युष्मदः ॥

अथवा

भे भो सम्बोधने । —जैनसिद्धान्तकौमुदी, अव्यय-प्रकरण ।

¶. उत् प्राधान्ये प्रकाशे च, प्राबल्यस्वाम्यशक्तिषु ।
विभागे बन्धने मोक्षे, भावे लाभोर्ध्वकर्म्मणोः ॥
—हैमानेकार्थसंग्रहः ७।५॥

φ. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ॥३।३।१३१॥ पा० ॥

£. अनु हीने सहार्थे च, पश्चात्सादृश्ययोरपि ॥
आयामे च नियामे च, लक्षणादावनुक्रमे ।
—विश्व-प्रकाश कोष ॥२।३३,३४॥

§. इः क्रियाविशेषणत्वे पुव्वस्स वा ॥३।४।८॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी ॥

अथवा

विभक्ति-व्यत्ययेन तृतीयास्थाने द्वितीया । इच्चोमि ॥८।३।२६॥ हे० ॥ स्त्रीलिङ्गस्य ॥

$. दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ॥२।३।३४॥ पा० ॥

अर्थ—कालीपर्व-अंगों के समान जिस का शरीर कृश अर्थात् सूख कर कांटा हो गया हो, हड्डियाँ और नसें-नाड़ियाँ दिखाई देती हों—ऐसी अवस्था में भी दीन मन से विचरण न करे और विपुल आहार पानी का योग होने पर भी परिमाण का जानने वाला होवे।

२. पिपासा परीषह—

४. तओ पुट्ठो पिवासाए, दुगुन्छी† लज्ज-संजए।
सीओदगं न सेवेज्जा,‡ वियडस्सेसणं§ चरे॥

छाया—ततः स्पृष्टः पिपासया, जुगुप्सी लज्जासंयतः।
शीतोदकं न सेवेत, विकृतस्यैषणां चरेत्॥

अर्थ—भूख के पश्चात् प्यास के सताए जाने पर,

---

[४] दोगुन्छी—अ; दोगुंछी—क; दोगुंच्छी—ल; दुगुंछी—उ; दोगुन्छालज्जसंजए—इ। सेविज्जा—अ, इ, क, ल।

†. जुगुप्सेर्झुण-दुगुच्छ-दुगुञ्छाः ॥८।४।४॥ हे० ॥

‡. ज्जा-ज्जे ॥८।३।१५९॥ हे० ॥ इति सूत्रेण अकारस्य एत्वम्।

§. वि विशेषेण कृतं—विकृतं = प्रासुकम्। विपरीतं कृतमिति विकृतं = मद्यम्।

············विकृतो रोग्य-संस्कृतः।
विमत्तश्च······················॥
—आचार्यः श्रीहेमचन्द्रोऽनेकार्थसङ्ग्रहे ॥३।३१९॥

३. शीत परीषह—

६. चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया ।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चा णं जिण-सासणं ॥

छाया—चरन्तं विरतं रूक्षं, शीतं स्पृशति एकदा ।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥

अर्थ—संयम एवं रूक्ष-वृत्ति का आचरण करते हुए साधक को किसी समय शीत लगे तो वीतराग देव की शिक्षाओं एवं उनकी बताई हुई मर्यादाओं को सुन कर विचार-शील साधक, शीत के कारण, कार्य-क्रम के समय एवं मर्यादा का उल्लङ्घन न करे ।

---

[६] सुच्चाणं—उ । जिन—इ ।

†. वेला बुधस्त्रियां काले सीमनीश्वरभोजने ॥
अक्लिष्टमरणाऽम्भोधेर्म्मार्गनीरविकारयोः ।
—आचार्यः श्रीहेमचन्द्रोऽनेकार्थसङ्ग्रहे ॥२।५२२,५२३॥
अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि ॥
—अमरकोषः ॥३।३।१९८॥

‡. पं० [illegible]—जैनसिद्धान्तकौमुदी अव्यय-प्रकरण ।

उस पर आरूढ शूरवीर शत्रु का सर्वथा हनन करता है, इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् डांस मच्छर आदि के आक्रमण होने पर शूरवीर के समान विशिष्ट मुनि अपने को संग्राम-भूमि में समझे और अपने शरीर रूपी हस्ती को आगे करके (शारीरिक कष्ट सहन करते हुए) अपनी आत्मा द्वारा काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीते।

११. न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंस-सोणियं॥

छाया—न संत्रसेत् न वारयेत, मनसापि न प्रद्वेषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात्प्राणिनः, भुञ्जानान्मांसशोणितम्॥

अर्थ—मांस एवं रक्त चूसते हुए प्राणियों को साधक न

[११] वारिज्जा—उ।

†. 'उ' प्रति में १०वें अध्ययन तक प्रायः 'न' को 'ण' है, अतः आगे इसके पाठान्तर का चिन्ह नहीं दिया है।

‡. 'इ' प्रति में प्राय वर्गीय पञ्चम अक्षर परस्वर्ण में दिया है अतः आगे इसके लिये पाठान्तर का चिन्ह नहीं दिया है। जैसे कि आगे की गाथा में 'चिनए' शब्द है, 'इ' प्रति में 'चिन्तए' दिया है, परन्तु अब ऐसे पाठान्तर नहीं दिये जा रहे।

$. मांसादिष्वनुस्वारे ॥८।१।७०॥ हे० ॥ इति सूत्रेणादेरातः अद् भवति।

अर्थ—एक स्थान में स्थिर न रह कर ग्राम-ग्राम में विचरण करने वाले अपरिग्रही साधक के मन में कोई चिन्ता घर कर जाए तो उस अरति परीषह को सम्यक् सहन करना चाहिये।

१५. अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आय-रक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसंते मुणी चरे॥

छाया—अरतिं पृष्ठतः कृत्वा, विरत आत्मरक्षकः।
धर्मारामे निरारम्भे, उपशान्तो मुनिश्चरेत्॥

अर्थ—हिंसा असत्य आदि से विरत अपनी आत्मा को पापों से बचाने वाले मुनि को शान्तचित्त होकर चिन्ता को पीठ-पीछे करके (निराकरण करके) आरम्भ समारम्भ रहित धर्मरूपी उद्यान में विचरण करना चाहिये।

८. स्त्री परीषह—

१६. संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया, सु-कडं तस्स सामण्णं॥

[१५] आयरक्खिए—इ।

[१६] सङ्गो—अ, इ, ऋ। परिन्नाया—अ, इ, ऋ।

* [illegible]

९. चर्या परीषह—

१८. एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥

छाया—एक एव चरेल्लाढः, अभिभूय परीषहान्।
ग्रामे वा नगरे वापि, निगमे वा राजधान्याम् ॥

अर्थ—ग्राम हो अथवा नगर भी क्यों न हो, वणिक्-नगरी (मण्डी) हो चाहे राजधानी हो, सब स्थान में परीषहों पर विजय पाता हुआ, किसी का सहारा न लेते हुए अपनी शक्ति पर ही निर्भर रह कर प्रासुक एवं निर्दोष आहार पानी द्वारा निर्वाह करता हुआ विचरण करे।

१९. अ-समाणे† चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
अ-संसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥

---

[१९] अणिकेओ—इ, उ।

†. देशीय शब्द। निर्दोष आहार से निर्वाह करने वाला संयमी, आत्मनिग्रही।

—पाइअ-सद्द-महण्णवो पृष्ठ ९०•।

‡. ये न्ति-न्त-माणपरेऽस्यतो नित्यम्। ३।४।३१॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी॥
इति सूत्रेणासधातोरकारस्य लोपः।

छाया—असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परिव्रजेत् ॥

अर्थ—साधक एक स्थान पर न ठहरता हुआ विचरण करे और किसी स्थान पर ममत्व-भाव भी न रखे, गृहस्थों में आसक्त न होकर बिना घर का होकर विहार करता रहे ।

१०. निषद्या परीषह—

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्ख-मूले व एगओ ।
अ-कुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥

छाया—श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वा एककः ।
अकुत्कुचो निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम् ॥

अर्थ—श्मशान में या शून्य घर में अथवा वृक्ष के मूल में एकाकी कुचेष्टाओं से रहित होकर और दूसरे प्राणियों को न डराता हुआ बैठे एवं स्वाध्याय आदि करे ।

[२०] सुण्णगारे—ऽ ।

§. कित् निवासे आदि । नि+कित् आधारे घञ्=निकेत अर्थात् गृह, घर ।

§. प्राकृत-व्याकरण-दृष्ट्या आर्षम् ।

२१. तत्थ से अच्छमाणस्स, उवसग्गा(ऽ)भिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

छाया—तत्र तस्य आसीनस्य, उपसर्गानभिधारयेत् ।
शङ्काभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥

अर्थ—वहां उसे स्वाध्याय आदि के लिये बैठे हुए को किसी देवादि का कष्ट आन पड़े, तो उसे धैर्य-पूर्वक सहन करे । किसी प्रकार की शङ्का से भय-भीत होकर वहां से खड़ा न होवे और न ही अन्य स्थान पर जावे ।

११. शय्या परीषह—

२२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खू थामवं ।
नाइवेलं विहम्मेज्जा, पाव-दिट्ठी विहम्मइ ॥

छाया—उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यते ॥

[२१] चिट्ठमाणस्स — अ, उ, ल; अत्थमाणस्स — ऋ ।

[२२] भिक्खु—अ, ऋ । नातिवेलं—इ । विहन्नेज्जा—इ; विहम्मिज्जा—ऋ, ल; विहण्णिज्जा—उ । विहन्नइ—इ; विहण्णइ—उ; विहम्मई—ऋ, ल ।

†. वेदं तदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ॥८।३।८१॥ हे० ॥

‡. अच्छ् उपवेशने ॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी पृ० १९१।

छाया—असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः परिव्रजेत् ॥

अर्थ—साधक एक स्थान पर न ठहरता हुआ विचरण करे और किसी स्थान पर ममत्व-भाव भी न रखे, गृहस्थों में आसक्त न होकर बिना घर का होकर विहार करता रहे।

१०. निषद्या परीषह—

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्ख-मूले व एगओ ।
अ-कुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥

छाया—श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वा एककः ।
अकुक्कुचो निषीदेत्, न च वित्रासयेत् परम् ॥

अर्थ—श्मशान में या शून्य घर में अथवा वृक्ष के मूल में एकाकी कुचेष्टाओं से रहित होकर और दूसरे प्राणियों को न डराता हुआ बैठे एवं स्वाध्याय आदि करे।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

२१. तत्थ से अच्छमाणस्स, उवसग्गा(ऽ)भिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

छाया—तत्र तस्य आसीनस्य, उपसर्गानभिधारयेत् ।
शङ्काभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥

अर्थ—वहां उसे स्वाध्याय आदि के लिये बैठे हुए को किसी देवादि का कष्ट आन पड़े, तो उसे धैर्य-पूर्वक सहन करे । किसी प्रकार की शङ्का से भय-भीत होकर वहां से खड़ा न होवे और न ही अन्य स्थान पर जावे।

११. शय्या परीषह—

२२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खू थामवं ।
नाइवेलं विहम्मेज्जा, पाव-दिट्ठी विहम्मइ ॥

छाया—उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यते ॥

---

[२१] चिट्ठमाणस्स — अ, उ, ल; अत्थमाणस्स — ऋ ।

[२२] भिक्खु—अ, ऋ । नातिवेलं—इ । विहम्मेज्जा—इ; विहम्मिज्जा—ऋ, ल; विहण्णिज्जा—उ । विहम्मइ—इ; विहण्णइ—उ; विहम्मई—ऋ, ल ।

†. वेदं तदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ॥८।३।८१॥ हे० ॥

‡. अच्छ् उपवेशने ॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी पृ० १९१।

छाया—असमानश्चरेद् भिक्षुः, नैव कुर्यात् परिग्रहम् ।
असंसक्तो गृहस्थैः, अनिकेतः§ परिव्रजेत् ॥

अर्थ—साधक एक स्थान पर न ठहरता हुआ विचरण करे और किसी स्थान पर ममत्व-भाव भी न रखे, गृहस्थों में आसक्त न होकर बिना घर का होकर विहार करता रहे ।

१०. निषद्या परीषह—

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्ख-मूले व एगओ ।
अ-कुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥

छाया—श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वा एककः ।
अकुत्कुचो निषीदेत, न च वित्रासयेत् परम् ॥

अर्थ—श्मशान में या शून्य घर में अथवा वृक्ष के मूल में एकाकी कुचेष्टाओं से रहित होकर और दूसरे प्राणियों को न डराता हुआ बैठे एवं स्वाध्याय आदि करे ।

---

[२०] सुण्णगारे—२ ।

§. कित् निवासे व्यादि । नि+कित् आधारे घञ्=निकेत अर्थात् गृह, घर ।

§. प्राकृत-व्याकरण-दृष्ट्या आर्षम् ।

२१. तत्थ से अच्छमाणस्स, उवसग्गा(ऽ)भिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

छाया—तत्र तस्य आसीनस्य, उपसर्गानभिधारयेत् ।
शङ्काभीतो न गच्छेत्, उत्थायान्यदासनम् ॥

अर्थ—वहां उसे स्वाध्याय आदि के लिये बैठे हुए को किसी देवादि का कष्ट आन पड़े, तो उसे धैर्य-पूर्वक सहन करे । किसी प्रकार की शङ्का से भय-भीत होकर वहां से खड़ा न होवे और न ही अन्य स्थान पर जावे ।

११. शय्या परीषह—

२२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खू थामवं ।
नाइवेलं विहम्मेज्जा, पाव-दिट्ठी विहम्मई ॥

छाया—उच्चावचाभिः शय्याभिः, तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
नातिवेलं विहन्यात्, पापदृष्टिर्विहन्यते ॥

[२१] चिट्ठमाणस्स — अ, उ, ल; अत्थमाणस्स — ऋ ।

[२२] भिक्खु—अ, ऋ । नातिवेलं—इ । विहम्मेज्जा—इ; विहम्मिज्जा—ऋ, ल; विहण्णिज्जा—उ । विहम्मइ—इ; विहण्णइ—उ; विहम्मई—ऋ, ल ।

†. वेदं तदेतदो ङसामुभ्यां से-सिमौ ॥८।३।८१॥ हे० ॥

‡. अच्छ् उपवेशने ॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी पृ० १६१।

छाया—परेषु ग्रासमेषयेत्, भोजने परिनिष्ठिते ।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा, नानुतप्येत् पण्डितः ॥

अर्थ—गृहस्थों के घरों में भोजन बन चुकने पर बुद्धिमान् साधक भिक्षा की गवेषणा करे और आहार के मिलने अथवा न मिलने पर हर्ष-शोक न करे ।

३१. अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥

छाया—अद्यैवाहं न लभे, अपि लाभः श्वः स्यात् ।
य एवं प्रतिसमीक्षेत, अलाभस्तं न तर्जेति ॥

अर्थ—आज मुझे जो आहार नहीं मिल रहा तो कल मिल जायगा—इस प्रकार जो साधक विचार करता है तो उसे न मिलने का खेद नहीं होता ।

---

[३१] अविलाभो—अ ।

†. अपि सम्भावने ।

‡. असादिभ्यो या ।२।१।१३॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी ॥ अस्-चय्-जाण-हणो यः ।४।२।२७॥ जैन० ॥ एभ्यः परस्य याप्रत्ययस्येडागमः स्यात् ।

§. प्रति—व्यापकरूपेण सम्यक्प्रकारेण ईक्षेत—चिन्तयेत् ।

§. यह भविष्यत् काल की क्रिया अवधारण में नहीं अपितु सम्भावना में है ।

नहीं होता, उसके पास सब कुछ मांग कर लाया हुआ होता है' अरे! इस नियम को जीवन-भर पालन करना तो सच-मुच बड़ा कठिन है।

२९. गोयरग्ग-पविट्ठस्स, पाणी णो सुप्पसारए।
सेओ अगार-वासु त्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥

छाया—गोचराग्रप्रविष्टस्य, पाणिर्न सुप्रसार्यः।
श्रेयोऽगारवास इति, इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

अर्थ—भिक्षा के लिये दूसरों के घरों में प्रवेश करना और वहां मांगते हुए हाथ पसारना सरल नहीं है, इस से तो घर में रह कर ही अपनी मनोवृत्ति को स्थिर करना अच्छा है—इस प्रकार भिक्षु चिन्तन न करे।

१५. अलाभ परीषह—

३०. परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परि-णिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा. णाणुतप्पेज्ज पंडिए ॥

अर्थ—अब कुछ समय बीत कर अज्ञान-फल वाले किये हुए कर्मों की उदीरणा हो जायगी और कर्म क्षय हो कर ज्ञान चमक उठेगा—इस प्रकार कर्मों के बन्ध एवं भोग रूप विपाक को समझ कर, अपनी आत्मा को आश्वासन दे।

२१. अज्ञान परीषह†—

४२. निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सु-संवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण-पावगं॥

छाया—निरर्थकमस्मि विरतः, मैथुनात् सुसंवृतः।
यत् साक्षान्नाभिजानामि, धर्मं कल्याणपापकं॥

अर्थ—जब मैं 'यह धर्माचरण हितकारी है अथवा अहितकारी' यह प्रत्यक्षरूप से नहीं जानता हूँ तो मैं व्यर्थ ही मैथुन-रूप गृहस्थाश्रम का त्यागी हुआ और इन्द्रियों का घोर दमन किया।

४३. तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ।
एवं पि विहरओ मे, छउमं‡ न नियट्टइ॥

---

[४३] एवंपि—अ, ऋ। एवं वि—उ। निवट्टए—इ; नियट्टई—अ, ऋ।

†. आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहते हैं।

‡. पद्म-छद्म-मूर्ख-द्वारे वा ॥८।२।११२ ॥हे०॥ एषु संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उद् वा भवति।

४६. एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहम्मेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई; त्ति बेमि ॥

इअ दुइअं परीसहज्झयणं समत्तं ॥२॥

छाया—एते परीषहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यैर्भिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनचित् कचित्; इति ब्रवीमि ॥

इति द्वितीयं परीषहाध्ययनं समाप्तम् ॥२॥

अर्थ—ये सब परीषह काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किए हैं, जिन्हें सुन कर एवं समझ कर, इन बाईस में से किसी भी परीषह के किसी स्थान और किसी द्वारा आन पड़ने पर साधक विचलित न होवे; ऐसा मैं कहता हूँ।

यह परीषहों को बताने वाला दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ ॥ २ ॥

---

[४६] परीसहे—इ । निवइया—अ । विहन्नेज्जा—इ, ल; विहन्निज्जा—ऋ;' विहण्णिज्जा—उ । केणई—उ । कन्हुई—इ; कण्हुई—अ, उ, ऋ, ल ।

४६. एए[1] परीसहा[2] सव्वे[3], कासवेण[4] पवेइया[5] ।
जे[6] भिक्खू[10] न[12] विहम्मेज्जा[7], पुट्ठो[11] केणई[8] कण्हुई[9]; त्ति[13] बेमि[14] ॥

इअ[15] दुइअं[16] परीसहज्झयणं[18] समत्तं[19] ॥२॥

छाया—एते परीषहाः सर्वे, काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यैर्भिक्षुर्न विहन्येत, स्पृष्टः केनचित् क्वचित्; इति ब्रवीमि ॥

इति द्वितीयं परीषहाध्ययनं समाप्तम् ॥२॥

अर्थ—ये[1] सब[2] परीषह[3] काश्यप-गोत्री[4] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन[5] किए हैं, जिन्हें[6] सुन कर एवं समझ कर, इन बाईस में से किसी भी परीषह के किसी[7] स्थान और किसी[8] द्वारा आन पड़ने[9] पर साधक[10] विचलित[11] न[12] होवे; ऐसा[13] मैं कहता[14] हूँ।

यह[15] परीषहों[16] को बताने वाला दूसरा[17] अध्ययन[18] समाप्त[19] हुआ ॥ २ ॥

---

[४६] परीसहे—इ । निवेइया—अ । विहन्नेज्जा—इ, ल; विहन्निज्जा—ऋ;' विहण्णिज्जा—उ । केणई—उ । कन्हुई—इ; कण्हुई—अ, उ, ऋ, ल ।

अर्थ—संसार में रहे प्रत्येक जीव ने नाना प्रकार के कर्मों का बन्धन करके नाना गोत्रों वाली जातियों में जन्म लेते हुए इस सारे विश्व के कोने कोने को अनन्त बार छान मारा है ।

३. एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई ॥

छाया—एकदा देवलोकेषु नरकेष्वप्येकदा ।
एकदा आसुरं कायं, यथाकर्मभिर्गच्छति ॥

अर्थ—यह जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में उत्पन्न होता है, कभी नरक में भी जन्म धारण करता है और कभी असुर-समूह में जीवन व्यतीत करता है ।

४. एगया खत्तिओ होइ, तओ चण्डाल-बुक्कसो ।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥

[३] अहाकम्मेहिं—इ, उ, ल्ह । गच्छई—अ, इ, ऋ ।

[४] चण्डाल बुक्कसो—ऋ । वोक्कसो—इ । कुन्थु पिवीलिया—ऋ, ल्ह । पिवालिया—इ ।

†. दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥८।१।४॥ है० ॥ यथा उत्तरा० ५।१३॥

‡. तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥२।४।४८॥ पा० ॥

§. बुक्कसः श्वपचेऽधमे—हेमानेकार्थसंग्रहः ३।७९५॥

५. एवमावट्ट*-जोणीसु, पाणिणो कम्म-किब्बिसा ।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥

छाया—एवमावर्तयोनिषु, प्राणिनः कर्मकिल्बिषाः ।
न निर्विद्यन्ते संसारे, सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः ॥

---

[५] एवमावट्ट जोणीसु—अ ।

†. चण्डाल-प्लव-मातङ्ग-दिवाकीर्ति-जनंगमाः ॥१९॥
निषाद-श्वपचावन्तेवासि-चाण्डाल-पुक्कसाः ।
—अमरकोष २।१०॥

पुक्कसः श्वपचेऽधमे । —विश्वप्रकाशः ३।४२॥

‡. ङसेम्-त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ॥८।३।८ ॥हे०॥ इति सूत्रेण विकल्पेन ङसेर्लुक् । जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः ॥८।३।१२ ॥हे०॥ इति सूत्रेण ङसि परेऽकारस्य दीर्घः ।

§. ………………अथ किल्बिषम् ॥
पापे रोगेऽपराधे च…………… ।
—हैमानेकार्थसंग्रहः ३।७७३,७७४॥

अर्थ—जैसे क्षत्रिय—राजा-लोग समस्त पदार्थों के मिलने पर भी तृप्ति नहीं लाते, इसी प्रकार ये संसारी जीव चौरासी लाख योनि के चक्ररूप संसार में मन्दे कर्मों से निवृत्त नहीं होते।

६. कम्म-संगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहु-वेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो॥

छाया—कर्मसङ्गैः सम्मूढाः, दुःखिता बहुवेदनाः।
अमानुषीषु योनिषु, विनिहन्यन्ते प्राणिनः॥

अर्थ—कर्मों के जाल में फंसे हुए ये जीव किंकर्तव्य-विमूढ होकर दुःखी होते हैं और महान् कष्ट उठाते हैं। मनुष्य योनि के बिना और योनियों में ये जीव निरन्तर विशेष पीड़ा को पाते हैं।

७. कम्माणं तु† पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुपत्ता, आययंति मणुस्सयं॥

---

[७] ओ—इ।

†. तु स्याद्भेदेऽवधारणे—अमरकोष ॥३।३।२४२॥
············तु विशेषेऽवधारणे ॥
समुच्चये पादपूर्तौ············।
—हेमानेकार्थसंग्रहः ७।१३,१४॥
तु पादपूरणे भेदे, समुच्चयेऽवधारणे।
पक्षान्तरे वियोगे च, प्रशंसायां विनिग्रहे॥ —मेदिनीकोष १९.॥

छाया—कर्मणान्तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदाचित्तु ।
जीवा शुद्धिमनुप्राप्ताः, आददते मनुष्यतां ॥

अर्थ—ये जीव निश्चित कर्मों को अनुक्रम से क्षय कर, आत्म-शुद्धि प्राप्त करके, फिर कहीं जाकर मनुष्य-जन्म को प्राप्त करते हैं ।

८. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥

छाया—मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
यां श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंसताम् ॥

अर्थ—मनुष्य का शरीर प्राप्त करके फिर ऐसे धर्म का श्रवण करना दुर्लभ है जिसको सुन कर ये जीव तप, क्षमा और दया को मन में लाते हैं ।

९. आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम-दुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥

छाया—कदाचिच्छ्रवणं लब्ध्वा, श्रद्धा परमदुर्लभा ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं, बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥

अर्थ—किसी समय पुण्योदय से धर्म-श्रवण प्राप्त कर

[८] सुइ—इ ।

[९] परम दुल्लहा—अ । परिभस्सई—अ, इ, क ।

लिया, फिर उस पर श्रद्धा लाना परम दुर्लभ है। इसी कारण बहुत जीव न्याय-युक्त जिन-मार्ग को सुन कर फिर उसे सर्वथा छोड़ देते हैं और अनेक मिथ्यात्व के मार्गों पर चल देते हैं।

१०. सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए॥

छाया—श्रुतिञ्च लब्ध्वा श्रद्धाञ्च, वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमानाऽपि, नो च प्रतिपद्यन्ते॥

अर्थ—श्रवण और श्रद्धा प्राप्त करके भी फिर उसके अनुसार आचरण करने के पराक्रम का होना दुष्प्राप्य है, इसी लिये बहुत मनुष्यों की अभिलाषा होने पर भी वे तदनुसार आचरण नहीं ही कर पाते।

---

[१०] रोयमाणावि—अ, ल्ह। पडिवज्जई—ङ; पडिवज्जइ—उ।

†. च समाहार समुच्चये।

‡. गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासंभावनास्वपि।

—अमरकोष ३।३।२४९॥

अपि संभावनाशङ्कागर्हणासु समुच्चये॥

अथे युक्तपदार्थेषु कामचारक्रियासु च। —हैमानेकार्थसंग्रहः ७।४०,४१॥

§. च हेतौ अवधृतौ।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि काम-खन्धाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥

छाया—क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दासपौरुषम् ।
चत्वारः कामस्कन्धाः(धम्), तत्र स उपपद्यते ॥

अर्थ—ये दस अङ्ग इस प्रकार हैं—(१) क्षेत्र—खुली भूमि १, वास्तु—मकान २, सोना चान्दी ३, और पशु एवं नौकरों का समूह ४—ये चार काम-स्कन्धों का एक अङ्ग वह मनुष्य भव में प्राप्त करता है ।

१८. मित्तवं नायवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायङ्के महा-पण्णे, अभिजाए जसो बले ॥

छाया—मित्रवान्ज्ञातिवान्भवति, उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान् ।
अल्पातङ्को महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली ॥

[१७] खित्तं—इ, ल । वत्थु—इ । चतारि—इ । उववज्जई—अ, इ, ऋ ।

[१८] पन्ने—अ, इ, ऋ, ल । अभिजायजसोबले—उ; जसोबले—अ ।

†. चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥८।३।१२२ ॥है०॥

‡. दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥८।१।४ ॥है०॥

§. स्तो श्चुना श्चुः ॥८।४।४० ॥पा०॥

§. पदान्तत्वानानुस्वारपरसवर्णः ।

छाया—भुक्त्वा मानुष्यकान् भोगान्, अप्रतिरूपान् यथायुषम् ।
पूर्वं विशुद्धसद्धर्मा, केवलां बोधिं बुद्ध्वा ॥

चतुरङ्गं दुर्लभं ज्ञात्वा, संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धूतकर्मांशः, सिद्धो भवति शाश्वतः; इति ब्रवीमि ॥

इति चतुरङ्गीयं नाम तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

अर्थ—वह जीव, मनुष्य के पाञ्चों इन्द्रिय-विषयक उत्तम भोगों का गृहस्थ के काल-पर्यन्त सेवन कर, पूर्व के सदृश विशुद्ध सद्धर्म विषयक निर्मल-बोधि को समझ करके तथा चारों अङ्गों को दुर्लभ जान कर संयम अङ्गीकार करके, तप द्वारा अपने कर्मों के अंश तक को क्षय कर सदा के लिये जन्म-मरण से रहित हो जाता है; ऐसा मैं कहता हूँ ।

यह चार दुर्लभ अङ्गों वाला तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ ॥३॥

जो पाप-कर्म किया जाता है तो उस कर्म का फल भोगते समय वे बन्धु-जन साझा-पन नहीं निभाते।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणंत-मोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

छाया—वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिँल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वैव ॥

अर्थ—प्रमादी पुरुष धन के द्वारा इस लोक किंवा परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर पाता। अँधेरी गुहा में

[५] पमत्तो—इ। इमंमि—ल। परत्थ—ल। दीव प्पणट्ठे व—इ; दीवप्पणट्ठेव—ल।

†. इदुतः पुंसि ॥४।३।२॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी। विकल्पेनोकारस्येकारः।

‡. ङे म्मि ङेः ॥८।३।११॥हे०॥

§. प्राकृतशैल्या छन्दोवशादाकारः, यथा गतगाथायां 'अट्ठा'। अध्ययन १, गा० २५ अप्पणट्ठा परट्ठा. गा० ३३ भोयणट्ठा। दशवै० ५।२। ३५॥ —भोयणट्ठा। अछन्दोवशत्वाकारः यथा उत्त० १।१५॥ —परत्थ य॥ अप्पणट्ठ परट्ठा च—निशीथ-भाष्ये।

जो पाप-कर्म किया जाता है तो उस कर्म का फल भोगते समय वे बन्धु-जन साझा-पन नहीं निभाते।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणंत-मोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

छाया—वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिँल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वैव ॥

अर्थ—प्रमादी पुरुष धन के द्वारा इस लोक किंवा परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर पाता। अँधेरी गुहा में

[५] पमत्तो—इ। इमंमि—ल। परत्थ—ल। दीव प्पणट्ठे च—इ; दीवप्पणट्ठेव—ल।

†. इदुतः पुंसि ॥४।३।२॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी। विकल्पेनोकारस्यैकारः।

‡. ङे म्मि ङेः ॥८।३।११॥हे०॥

§. प्राकृतशैल्या छन्दोवशादाकारः, यथा गतगाथायां 'अट्ठा'। अध्ययन १, गा० २५ अप्पणट्ठा परट्ठा, गा० ३३ भोयणट्ठा। दशवै० ५।२। ३५॥ —भोयणट्ठा। अछन्दोवशश्चाकारः यथा उत्त० १।१५॥ —परत्थ य॥ अप्पणट्ठ परट्ठा च—निशीथ-भाष्ये।

जो पाप-कर्म किया जाता है तो उस कर्म का फल भोगते समय वे बन्धु-जन साँझा-पन नहीं निभाते।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणंत-मोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥

छाया—वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिँल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वेव॥

अर्थ—प्रमादी पुरुष धन के द्वारा इस लोक किंवा परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर पाता। अँधेरी गुहा में

---

[५] पमत्तो—इ। इमंमि—ल। परत्थ—ल। दीव प्पणट्ठे व—इ; दीवप्पणट्ठेव—ल।

†. इदुतः पुंसि॥४।३।२॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी। विकल्पेनोकारस्येकारः।

‡. ङे म्मि ङेः॥८।३।११॥हे०॥

§. प्राकृतशैल्या छन्दोवशादाकारः, यथा गतगाथायां 'अट्टा'। अध्ययन १, गा० २५ अप्पणट्ठा परट्ठा. गा० ३३ भोयणट्ठा। दशवै० ५।२।३५॥ —भोयणट्ठा। अछन्दोवशाकारः यथा उत्त० १।१५॥ —परत्थ य॥ अप्पणट्ट परट्ठा च—निशीथ-भाष्ये।

जो पाप-कर्म किया जाता है तो उस कर्म का फल भोगते समय वे बन्धु-जन साँझा-पन नहीं निभाते।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणंत-मोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥

छाया—वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिँल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वैव॥

अर्थ—प्रमादी पुरुष धन के द्वारा इस लोक किंवा परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर पाता। अँधेरी गुहा में

---

[५] पमत्तो—इ। इमंमि—ल। परत्थ—ल। दीव प्पणट्ठे व—इ; दीवप्पणट्ठेव—ल।

†. इदुतः पुंसि ॥४।३।२॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी। विकल्पेनोकारस्येकारः।

‡. ङे म्मि ङेः ॥८।३।११॥हे०॥

§. प्राकृतशैल्या छन्दोवशादाकारः, यथा गतगाथायां 'अट्ठा'। अध्ययन १, गा० २५ अप्पणट्ठा परट्ठा, गा० ३३ भोयणट्ठा। दशवै० ५।२।३५॥ —भोयणट्ठा। अछन्दोवशात्राकारः यथा उत्त० १।१५॥ —परत्थ य॥ अप्पणट्ठ परट्ठा च—निशीथ-भाष्ये।

छाया—सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्त्ता अबलं शरीरं,
भारण्डपक्षीव चरेदप्रमत्तः॥

अर्थ—मोह-निद्रा में सोए हुए लोगों के मध्य में भी जागृत—अप्रमत्त होकर जीवन-यापन करना चाहिये। दूसरों के भावों को शीघ्रता से भाँपने वाला एवं अपने हिताहित को भली प्रकार समझने वाला पण्डित पुरुष, उन प्रमादी लोगों में विश्वास न करे और समय की भयङ्करता एवं शरीर की निर्बलता का विचार करते हुए, भारुण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त होकर विचरण करे।

७. चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मन्नमाणो।
लाभंतरे जीविय वूहइत्ता,
पच्छा परिण्णाय मलावधंसी॥

[७] ज—इ। मण्णमाणो—अ, उ, ऋ। परिन्नाय—अ, इ, ऋ, लृ।

†. नो णः ॥८।१।२२८॥ हे० ॥ इति सूत्रेण संयुक्तत्वान्न णत्वम्।

‡. ················अथान्तरेऽन्तरा।
अन्तरेण च मध्ये स्युः·········· ॥ —अमरकोष ३।४।१०॥

§. ज्ञो णः ॥८।२।४॥ हे० ॥ इति सूत्रेण णत्वम्॥

छाया—चरेत् पदानि परिशङ्कमानः,
यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा,
पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी (भवेत्)॥

अर्थ—मूल-गुण एवं उत्तर-गुण रूप संयम-पदों में लगने वाले दोषों से परितः शङ्कित होता हुआ (दोषों से बचता हुआ) तथा यत्किञ्चित् लगे दोषों को संसार का पाश मानता हुआ, साधक विचरण करे तथा ज्ञान दर्शन एवं चारित्र के लाभ में ही, जीवन के आधार इस शरीर का पोषण करते हुए तत्पश्चात् आयु की समाप्ति का भली प्रकार ज्ञान होने पर अपने कर्म-मल के परिणाम-स्वरूप इस शरीर का त्याग करने वाला होवे अर्थात् समाधि-मरण के लिये अनशन धारण करे।

८. छन्दं* निरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खिय-वम्म-धारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥

[८] छन्दंनिरोहेण—अ, इ, ल। सिक्खियवम्मधारी—अ, इ, उ, ल। चरप्पमत्त—ल; चरऽप्पमत्तो—इ; चरेऽप्पमत्तो—उ, ऋ। मुक्खं—ल।

†. अत इदेतौ लुक् च ॥१।१०॥ प्राकृतप्रकाशः ॥

छाया—छन्दोनिरोधेनोपैति मोक्षम्,
अश्वो यथा शिक्षितो वर्मधारी ।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेदप्रमत्तः,
तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥

अर्थ—जैसे सवार की-शिक्षा के अनुसार चलने वाला कवच-धारी घोड़ा युद्ध में विजय पाता है, इसी प्रकार साधक अपने अभिप्राय को छोड़ कर, देव एवं गुरु के अभिप्राय अनुसार चलता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है। पूर्वों वर्षों तक अप्रमत्त होकर विचरे तभी मुनि शीघ्रता से मोक्ष को पाता है।

९. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासय-वाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥

छाया—स पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्,
एष उपमा शाश्वतवादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि,
कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥

---

[९] एसोऽवमा—इ । सासय वाइयाणं—ऋ । विसीदई—इ; विसीयई—अ, ऋ, ऌ । भेदे—इ ।

‡. 'पश्चात् इति अव्ययम् । अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥८।१।११॥ हे० ॥ लुक् ॥

§. मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः ॥८।१।२१५॥ हे० ॥

छाया—मुहुर्मुहुर्मोहगुणान् जयन्तं,
अनेकरूपेण श्रमणं चरन्तम्।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमंजसं च,
न तेभ्यो भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत्।

अर्थ—मोह के स्वभाव को बार बार जीतते हुए एवं नाना विधि से श्रमण-भाव का आचरण करते हुए, दूसरों के द्वारा जो परीषह आएं तथा अनुचित व्यवहार हों तो साधक उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

१२. मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं ण कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं॥

छाया—मन्दाश्च स्पर्शा बहुलोभनीयाः,
तथाप्रकारेषु मनो न कुर्यात्।
रक्षेत् क्रोधं विनयेन्मानं,
मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम्॥

अर्थ—मन को बहुत लुभाने वाली एवं मन में द्वेष उत्पन्न करने वाली तुच्छ घटनाओं तथा इस प्रकार के इष्टानिष्ट शब्दादि विषयों में साधक मन न लगाए; अपनी आत्मा

[१२] रक्खिज्ज—अ, इ, ऋ, लृ। मोहं—इ।

अर्थ—तथा वह अज्ञानी और बहुमत की दुहाई देकर अपनी बात सिद्ध करने को इस प्रकार धृष्टता करता है कि 'मैं तो लोगों के साथ होऊंगा।' और कामभोगों में अनुराग रखने से वह क्लेश के कीचड़ में फँस जाता है।

काम-भोगों में आसक्ति का परिणाम—

८. तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूय-गामं विहिंसई॥

छाया—ततः स दण्डं समारभते, त्रसेषु स्थावरेषु च।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्रामं विहिनस्ति॥

---

[७] पगब्भई—अ, इ, ऋ, लृ। काम भोगाणुराएणं—ऋ। संपडिवज्जई—अ, इ, ऋ, लृ।

[८] समारभई—अ, इ, ऋ, लृ। विहिंसई—अ, इ, ऋ, लृ।

†. पूर्वं लोपोऽत्यादेशश्च पश्चात्कृतः समासः।

अर्थ—फिर वह ऐन्द्रिय सुखों को पूरा करने के लिये स्थावर एवं त्रस जीवों को पीड़ा देने लग जाता है। यहां तक ही नहीं, अपितु प्रयोजन एवं निष्प्रयोजन का विवेक खो कर अपनी क्रीड़ा-मात्र के लिये भी प्राणि-समूह की हिंसा करने लग जाता है।

९. हिंसे बाले मुसा-वाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नइ॥

छाया—हिंस्रो बालो मृषावादी, मायावी पिशुनः शठः।
भुञ्जानः सुरां मांसं, श्रेय इदमिति मन्यते॥

अर्थ—वह अज्ञानी जीव, हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल कपट करने वाला, चुगली खाने वाला एवं शठता का आचरण करने वाला, मदिरा मांस का सेवन करते हुए 'यह ठीक है' ऐसा मानता है।

१०. कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसु-णागो व्व मट्टियं॥

[९] मन्नई—अ, इ, श्र, ल।
[१०] सिसुणागु व्व—अ; सिसुणागुव्व—उ, ल।

†. आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥८।२।१५९॥ हे० ॥

‡. अर्द्धमागधी कोष (कान्फ्रेन्स) भाग ४ पृष्ठ—७६० सिसुनाग. पु० (शिशुनाग) अलसिया। पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ११३८—सिसुनाग. पुं [शिशुनाग] क्षुद्र कीटविशेष, अलस (उत्तरा० ५,१०)।

§. वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः ॥८।२।२९॥ हे० ॥

छाया—ततः स मरणान्ते, बालः संत्रस्यति भयात् ।
अकाममरणं म्रियते, धूर्त इव कलिना जितः ॥

अर्थ—तब वह अज्ञानी जीव एक ही दाव में हारे हुए जुआरी के समान, ऐन्द्रिय सुखों में अपने अमूल्य जीवन को गंवा कर मरते समय परलोक की यातनाओं से डरता है और अकाममरण मरता है ।

२. सकाम मरण—

१७. एयं अकाम-मरणं, बालाणं तु पवेइयं ।
एत्तो सकाम-मरणं, पंडियाणं सुणेह मे ॥

छाया—एतदकाममरणं, बालानां तु प्रवेदितम् ।
इतः (परं) सकाममरणं, पण्डितानां शृणुत मे ॥

अर्थ—यह तो अज्ञानियों का अकाममरण कहा गया है, अब आगे मेरे से पण्डित जनों के सकाममरण के विषय में सुनो ।

१८. मरणं पि स-पुण्णाणं, जहा मेऽयमणुस्सुयं ।
विप्पसन्नमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ॥

[१७] इत्तो—उ, ऋ, लृ ।

[१८] मरणंपि—ऋ । मेयमणुस्सुयं—अ, ऋ, लृ । विप्पसण्णमणाघायं—अ, ऋ, लृ; विप्पसण्ण मणाघायं— उ । संजयाण—अ,इ, लृ ।

†. एतदोऽन् ॥५।३।५॥ पा० ॥

‡. समीपार्थेऽत्र ।

छाया—सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यो, गृहस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥

अर्थ—कुछ साधुओं से कुछ गृहस्थों का संयम अच्छा है और सब गृहस्थों से सब साधुओं का संयम श्रेष्ठ है।

२१. चीराजिणं नगिणिणं, जडी-संघाडि-मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥

छाया—चीराजिनं नाग्न्यं, जटि-संघाटि-मुण्डित्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यागतम् ॥

अर्थ—वस्त्र एवं मृग-चर्म धारण करने वाले, नग्न रहने वाले, जटा-धारी, केवल एक गोदड़ी रखने वाले और शिरोमुण्डित रहने वाले—ये प्रव्रजित साधुओं के नाना प्रकार के वेष भी कुआचरण-शीलों के रक्षक नहीं होते।

२२. पिंडोलए व्व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥

---

[२१] जडी संघाडिमुण्डिणं—अ, उ, ऌ; जडी संघाडी मुण्डिणं—ऋ।
पडियागयं—इ ।

[२२] पिंडोलए व—उ, ऋ; पिंडोलएव्व—ऌ; पिंडोल एव्व—अ ।
मुच्चई—अ, इ, ऋ । कम्मई—अ, इ, उ, ऋ ।

†. दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥८।१।४॥ हे० ॥

‡. अपि गर्हायाम् ।

§. एवौपम्ये परिभव ईषदर्थेऽवधारणे । —हैमानेकार्थसंग्रहः ७।५५॥

२४. एवं सिक्खा-समावन्ने, गिहि-वासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छवि-पव्वाओ, गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥

छाया—एवं शिक्षासमापन्नः, गृहवासेऽपि सुव्रतः ।
मुच्यते छविपर्वणः, गच्छेद् यक्षसलोकताम् ॥

अर्थ—इस प्रकार के शिक्षण से युक्त व्यक्ति गृहस्थ अवस्था में रहते भी सुव्रती है। वह इस प्रकार जीवन-यापन करते हुए अन्त में हड्डी-मांस के इस शरीर को संलेखना द्वारा छोड़ता है एवं यक्षों के देव लोक में जाता है।

सुव्रती साधु—

२५. अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया ।
सव्व-दुक्ख-पहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए ॥

छाया—अथ यः संवृतो भिक्षुः, द्वयोरन्यतरः स्यात् ।
सर्वदुःखप्रहीणो वा, देवो वाऽपि महर्द्धिकः ॥

[२४] गिह—उ, ऋ। छविपव्वाओ मुच्चई,—ऋ; मुच्चई—अ, [illegible] [illegible] सलोगयं—'ऋ' का यथार्थ तथा अन्य हस्त-लिखित प्रति

[२५] [illegible]—उ।

†. अन्नयरस्स ॥८।१।३१॥ हे० ॥ ऊत् ॥

‡. [illegible] वा ॥८।२।१६४॥ हे० ॥

§. लोपि ॥८।४।६०॥ पा० ॥

छाया—तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां, संयतानां वश्यवताम् ।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते शीलवन्तो बहुश्रुताः ॥

अर्थ—उन स्थानों को प्राप्त करने वाले जितेन्द्रिय सत्पूज्य संयमियों के जीवन-चरितों को सुन कर चारित्र-शील बहुश्रुत पुरुष मृत्यु के समय नहीं घबराते।

३०. तुलिया विसेसमादाय, दया-धम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥

छाया—तोलयित्वा विशेषमादाय दयाधर्मस्य क्षान्त्या ।
विप्रसीदेन्मेधावी, तथाभूतेनात्मना ॥

अर्थ—सकाम-मरण और अकाम-मरण इन दोनों को तोल कर और विशेषता वाले को ग्रहण करके बुद्धिमान् पुरुष दयाधर्म-युक्त क्षमाशील तथाभूत आत्म-स्वरूप से अपनी आत्मा को खूब प्रसन्न करे।

३१. तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोम-हरिसं, भेयं देहस्स कंखए ॥

छाया—ततः काले अभिप्रेते, श्राद्धः तादृशमन्तिके ।
विनयेल्लोमहर्षं, भेदं देहस्य काङ्क्षेत ॥

---

[३०] विप्पसीदेज्ज—उ ।

†. क्त्वादिभ्यस्त्तस्तयोर्या वा।२।३।९५॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी ॥ इति सूत्रेण त्वाप्रत्ययस्य तकारद्वयस्य यकारादेशः विकल्पेन ॥

५. गवासं मणि-कुण्डलं, पसवो दास-पोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ताणं, काम-रूवी भविस्ससि॥

छाया—गवाश्वं मणिकुण्डलं, पशवो दासपौरुषम्।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा, कामरूपी भविष्यसि॥

अर्थ—हे आत्मन्! जो ये हाथी घोड़े मोती मणी एवं कुण्डलादि भूषण तथा गाय भैंस व अन्य पशु और नौकर चाकर के समूह हैं—इन सब का त्याग करके, त्यागी-जीवन बिता कर तू इच्छानुकूल रूप बनाने वाला देव हो जायगा।

६. थावरं जंगमं चेव, धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोयणं॥

छाया—स्थावरं जङ्गमं चैव, धनं धान्यमुपस्करम्।
पच्यमानस्य कर्मभिः, नालं दुःखान्मोचनं॥

अर्थ—ये घर-बार और साज-सामान तथा धन-धान्य एवं मानव-परिवार—कोई भी कर्मों द्वारा पीड़ित की पीड़ा से छुड़ाने में सर्वथा समर्थ नहीं हैं।

---

[५] चइत्ता णं—अ।
[६] यह गाथा 'अ' प्रति में नहीं तथा 'ह' में प्रक्षिप्त दिखाई गई है। दुक्खाउ—उ, ह। मोअणे—अ।
†. तक्कादिभ्यो णत्थणको तः।४।२।६॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी॥

७. अज्झत्थं† सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भय-वेराओ उवरए ॥

छाया—अध्यात्मस्थं सर्वतः सर्वं, दृष्ट्वा प्राणान्प्रियात्मकान् ।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्, भयवैरादुपरतः ॥

अर्थ—सब स्थानों पर होने वाला यह सारा सुख दुःख तुम्हारे अपने अधीन है अर्थात् तुम्हारा अपना उत्पन्न किया हुआ है। अतः किसी के प्रति रोष दोष एवं भय विरोध का त्यागी साधक प्रत्येक के प्रिय-स्वरूप प्राणों को समझ कर किसी प्राणी के प्राणों को न सताए।

८. आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणामवि ।
दोगुञ्छी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥

छाया—आदानं नरकं दृष्ट्वा, नाददीत तृणमपि ।
(पापानां) जुगुप्सी आत्मनः पात्रे, दत्तं भुञ्जीत भोजनम् ॥

अर्थ—परिग्रह को नरक का कारण जान कर एक तृण भी बिना आज्ञा न ले। पाप से घृणा करने वाला साधक अपने पात्र में दिया गया भोजन करे।

---

[८] आदाणं—इ, ल, । भुंजिज्ज—इ ।

†. बंधपमोक्खो तुज्झऽज्झत्थेव—आचाराङ्ग सूत्र १।५।२।५॥

९. इहमेगे उ मन्नंति, अपच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ताणं, सव्व-दुक्खाण मुच्चइ ॥

छाया—इहैके तु मन्यन्ते, अप्रत्याख्याय पापकं ।
आचार्यं विदित्वा, सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥

अर्थ— इस से विपरीत इस संसार में कई एक ऐसा मानते हैं कि पाप-कर्म के त्याग किये बिना ही अपने आचार्य के कथन को जान लेने मात्र से ही कोई अपने सब दुःखों से छूट जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।

१०. भणंता अकरेन्ता य, बन्ध-मोक्ख-पइण्णिणो ।
वाया-विरिय-मेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥

छाया—भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः ।
वाग्वीर्यमात्रेण, समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥

[९] [illegible]

[illegible]

अर्थ—बन्ध और मोक्ष का केवल कथन करने वाले जो कहते ही हैं और करते कुछ नहीं, वे मात्र वाग्शूरता से अपनी आत्मा को भली प्रकार आश्वासन देते हैं।

११. न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पाव-कम्मेहिं, बाला पंडिय-माणिणो॥

छाया—न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषण्णाः पापकर्मभिः, बालाः पण्डितमानिनः॥

अर्थ—ये सुन्दर भाषण एवं वार्तालाप जीव का रक्षण नहीं कर सकते तो फिर विद्याओं पर अनुशासन करने वाले ये व्याकरण न्याय योग एवं वेदान्त आदि शास्त्र कैसे रक्षा कर सकते हैं। अपने को पण्डित मानने वाले जो पाप-कर्म का त्याग नहीं करते वे अज्ञानी जीव वास्तव में पाप-कर्मों में लिप्त हैं।

१२. जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय-वक्केणं, सव्वे ते दुक्ख-सम्भवा॥

छाया—ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसम्भवाः॥

1. चित्रं किर्मीर-कल्माष-शबलैताश्च कर्बुरे। —अमरकोष 1।6।17॥

१७. एसणा-समिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे।
अपमत्तो पमत्तेहिं, पिंड-वायं गवेसए॥

छाया—एषणासमितो लज्जावान्, ग्रामेऽनियतश्चरेत्।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः, पिण्ड(पात्रि)पातं गवेषयेत्॥

अर्थ—धर्म की लाज रखने वाला एवं एषणा समिति के बयालीस दोषों को टालने वाला साधक ग्रामादि में प्रतिबन्ध-रहित होकर विचरण करे और प्रमत्त लोगों में अप्रमत्त होकर भिक्षा की गवेषणा करे।

१८. एवं से उदाहु अणुत्तर-णाणी
अणुत्तर-दंसी, अणुत्तर-णाण-दंसण-धरे।
अरहा णाय-पुत्ते भगवं,
वेसालिए वियाहिए; त्ति बेमि॥

इअ खुड्डाग-नियंठिज्जं नामं छट्ठं अज्झयणं समत्तं॥६॥

---

[१८] यह १८ अङ्क 'अ', 'ऋ' और 'लृ' में नहीं दिया है।
णाणी—अ, ई, ऋ, लृ। नाण—अ, ई, ऋ, लृ। नाय—अ, ई, ऋ, लृ।

१. [illegible] ॥८।२।१४१॥ [illegible]॥

२. [illegible] ॥८।३।१९१॥ [illegible]॥

छाया—एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी,
अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान्,
वैशालिके व्याख्याते; इति ब्रवीमि ॥

इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीयं षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥६॥

अर्थ—इस प्रकार परम-ज्ञानी सर्व-दर्शी एवं पूर्ण-ज्ञान और पूर्ण-दर्शन दोनों के धर्ता अरिहन्त भगवान् ज्ञात-वंशीय उस वर्द्धमान स्वामी ने वैशाली नगरी के एक व्याख्यान में अन्त में 'त्ति बेमि' कह कर यह प्रतिपादन किया है ।

प्रारम्भिक साधना वाले निर्ग्रन्थों का आचार बताने वाला 'क्षुल्लक-निर्ग्रन्थ' नामक यह छट्ठा अध्ययन समाप्त हुआ ॥६॥

अह एलयं सत्तमं अज्झयणं

१. जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जा* वि सयङ्गणे ॥

छाया—यथाऽऽदेशं समुद्दिश्य, कोऽपि पोषयेदेडकम् ।
ओदनं यवसं दद्यात, पोषयेदपि स्वकाङ्गणे ॥

अर्थ—जैसे कोई प्राघूर्णक—अतिथि (महमान) के उद्देश्य से मेढे को पालता है और अपने घर के आङ्गण में उसे चावल जौं आदि खाने को देता है तथा उसे हृष्ट-पुष्ट बनाता है।

२. तओ से पुट्ठे परिवूढे, जाय-मेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥

छाया—ततः स पुष्टः परिबृंढः†, जातमेदाः महोदरः ।
प्रीणितो विपुलो देहः, आदेशं परिकाङ्क्षति ॥

---

[१] जहा एसं—इ । ओदनं—ट । पोसेज्जावि—अ, ऋ, लृ ।
[२] मेदे—इ ।

†. आदिश्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायाते इत्यादेशः, प्राघूर्णकः।
—कमलसंयमी ।

‡. प्रभौ परिवृढः ॥७।२।२१॥ पा० ॥

अर्थ—तब वह हृष्ट-पुष्ट बलवान् होकर बढ़ी हुई चर्बी एवं बड़े उदर युक्त विशाल काया वाला मेढा अतिथि की प्रतीक्षा के लिये है।

३. जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ सो दुही।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई॥

छाया—यावन्नैत्यादेशः, तावज्जीवति स दुःखी।
अथ प्राप्ते आदेशे, शीर्षं छित्वा भुज्यते॥

अर्थ—जब तक वह अतिथि नहीं आता है तब तक वह आगे दुःख उठाने वाला मेढा जी रहा है और अतिथि के आने पर सिर काट कर (मार कर) खा लिया जाता है।

४. जहा से खलु उरब्भे, आएसाए समीहिए।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं॥

छाया—यथा स खलु उरभ्रः, आदेशाय समीहितः।
एवं बालोऽधर्मिष्ठः ईहते नरकायुष्कम्॥

---

[३] से—ऋ। भुज्जई—अ, इ, ऋ।

[४] ओरब्भे—उ, ऋ। ईहई—अ, इ, ऋ, ल।

†. सुखादिभ्यश्च ।५।२।१३१॥ पा० ॥ मत्वर्थे इनिः॥

‡. अथ शब्दोऽनन्तरार्थे पृष्ठ ४२ §.

§. अतिशायने तमबिष्ठनौ ।५।३।५५॥ पा० ॥ स्वार्थे॥

भावार्थ—जैसे मेढ़ा अतिथि के लिये पाला जाता है इसी प्रकार पापी में भोगता हुआ सब भोगता और नरकायु को चाहता रहा है—नरक का बन्धन कर रहा है।

त्रिभिर्विशेषकम्—

५. हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए।
अन्न-दत्त-हरे तेणे, माई कं-नु-हरे सढे॥

६. इत्थी-विसय-गिद्धे य, महारंभ-परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे॥

७. अय-कक्कर-भोई य, तुंदिल्ले चिय-लोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए॥

[५] अद्धाणम्मि—इ, उ; अद्धाणंमि—ऋ।

[७] तुंडिल्ले—अ, ल; तुंदिल्ले—उ।

†. सि ।४।३।२२॥ जैनसिद्धान्तकौमुदी ॥ इति सूत्रेण सप्तम्येकवचने मेः स्थाने सिरादेशो वा स्यादस्त्रियाम्। 'मौ व्यञ्जनादौ नाम्नः' ॥४।२।१८॥ जैन० ॥ ममागमः स्यात्॥

‡. नु प्रश्नेऽनुनयेऽतीतार्थे विकल्पवितर्कयोः।
—हैमानेकार्थसङ्ग्रहः ।७।१६॥

§. स्त्रिया इत्थी ॥८।२।१३०॥ हे०॥

£. ताच्छील्ये शानच्।

$. मांसादिष्वनुस्वारे ॥८।१।७०॥ हे०॥ आदेरातः अद् भवति॥

φ. स्वार्थे कश्च वा ॥८।२।१६४॥ हे०॥ विकल्पेन डिल्ल-डुल्लौ भवतः॥

छाया—हिंस्रो बालो मृषावादी, अध्वनि विलोपकः ।
अन्यदत्तहरः स्तेनः, मायी कन्नुहरः शठः ॥
स्त्रीविषयगृद्धश्च, महारम्भपरिग्रहः ।
भुञ्जानः सुरां मांसं, परिवृढः परंदमः ॥
अजकर्करभोजी च, तुन्दिलश्चितलोहितः ।
आयुष्कं नरकाय काङ्क्षति, यथाऽऽदेशमिवैडकः ॥

अर्थ—वह अज्ञानी हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, चोरी करने वाला, मार्ग में लोगों को लूटने वाला अन्य की दी (रखी) हुई वस्तु को हड़प करने वाला, अनेक छल प्रपञ्चों का कर्ता धूर्त प्रत्येक क्षण यह सोचता है कि अब किस को ठगूं ? तथा स्त्री एवं पाञ्चों इन्द्रियों के विषयों में गृद्धित, महारम्भी, महापरिग्रही (लोभी), मांस मदिरा का खाने-पीने वाला, धन-बल एवं जन-बल से बढ़ा हुआ होने पर अथवा (परिवृढ) समर्थ अधिकारी होने पर दूसरों पर अत्याचार करने वाला और बकरे के मांस को भून-भून कर (कबाब) खाने वाला जो अपने रक्त-मांस को बढ़ा कर लम्बे पेट वाला हो गया है वह ऐसे ही नरक की राह देख रहा है जैसे कि वह मेंढा अतिथि की प्रतीक्षा में समय पूरा कर रहा है ।

युग्म—

८. आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे यं भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं ॥

[८] कामाणि भुंजिया—इ । बहु—त्रृ ।

†• क्लीबे स्वरान्म् से ॥८।३।२५॥ हे० ॥

१३. अणेग-वासा-नउया, जा सा पन्नवओ ठिई ।
जाणि जीयंति दुम्मेहा, ऊणे-वास-सयाउए ॥

छाया—एवं मानुष्यकाः कामाः, देवकामानामन्तिके ।
सहस्रगुणिता भूयः, आयुः कामाश्च दिव्यकाः ॥

अनेकवर्षनयुतानि, या सा प्रज्ञावतः स्थितिः ।
यानि जीयन्ते दुर्मेधसः, ऊनवर्षशतायुषि ॥

अर्थ—इसी प्रकार देवों के ऐन्द्रिय सुखों के आगे मनुष्यों के ऐन्द्रिय सुख अल्प हैं, इन को सहस्र बार हजारों गुणा करने पर ये देवताओं के ऐन्द्रिय सुख एवं उनकी आयु होती है जो कि अपना हिताहित समझ कर एवं संयम पाल कर बने हुए बुद्धिमान देवताओं की अनेक नयुत वर्षों की वह आयु है जिसे ये दुर्बुद्धि पुरुष सौ वर्ष से भी कम आयुष्काल के लिये हार देते हैं ।

तीन व्यापारियों का दृष्टान्त (युग्म)—

१४. जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥

[१३] ठिइ—इ । ऊणे वाससयाउए—उ, ऋ, लृ ।

[१४] वाणिया—अ, इ, उ ॥ लहई—अ, ऋ; लहए—ई, उ, लृ । लाभं—अ, इ, ऋ, लृ ।

†. क्त्वा-तुम-तव्येषु घेत् ॥८।४।२१० ॥ हे० ॥ ग्रहधातोः ॥

अर्थ— इस प्रकार दीनता से रहित तेजस्वी साधु और सुव्रती गृहस्थ को भली प्रकार जान कर, नृ-जन्म को हारता हुआ मनुष्य ऐसे हारने वाले व्यक्ति की दशा का क्यूं नहीं विचार करता ? अर्थात् उसे अवश्य विचार करना चाहिये।

२३. जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देव-कामाण अंतिए ॥

छाया—यथा कुशाग्र उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यकाः कामा, देवकामानामन्तिके ॥

अर्थ—जैसे कुशाग्र-स्थित जल-कण को समुद्र के साथ मापा जाए, अर्थात् वह जल-कण समुद्र के आगे तुच्छ है, इसी प्रकार मनुष्य के शारीरिक सुख देवताओं के शारीरिक सुखों के आगे तुच्छ हैं।

अर्थ—इस प्रकार दीनता से रहित तेजस्वी साधु और सुव्रती गृहस्थ को भली प्रकार जान कर, नृ-जन्म को हारता हुआ मनुष्य ऐसे हारने वाले व्यक्ति की दशा का क्यूं नहीं विचार करता? अर्थात् उसे अवश्य विचार करना चाहिये।

२३. जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देव-कामाण अंतिए॥

छाया—यथा कुशाग्र उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यकाः कामा, देवकामानामन्तिके॥

अर्थ—जैसे कुशाग्र-स्थित जल-कण को समुद्र के साथ मापा जाय, अर्थात् वह जल-कण समुद्र के आगे तुच्छ है, इसी प्रकार मनुष्य के शारीरिक सुख देवताओं के शारीरिक सुखों के आगे तुच्छ हैं।

२४. कुसग्ग-मेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुरा-काउं, जोग-खेमं न संविदे॥

छाया—कुशाग्रमात्रा इमे कामाः, सन्निरुद्ध आयुषि।
कस्य हेतुं पुरस्कृत्य, योगक्षेमं न संविद्यात्॥

अर्थ—अति संक्षिप्त थोड़ी-सी आयु में जब कुशाग्र-परिमाण अल्प-मात्रा में ये सुख हैं तो फिर किस कारण को आगे करके यह जीव अपने योग-क्षेम (सुधर्म की प्राप्ति और उस के

अर्थ—अपने हित एवं कल्याण की बुद्धि से विपरीत बना हुआ, आमिष के सदृश घृणित एवं अनेकों दोषों को उत्पन्न करने वाले भोगों में खचित हुआ अपने हिताहित को न समझने वाला तथा मन्द-बुद्धि-युक्त अज्ञानी जीव श्लेष्म में मक्षिका के समान संसार में बँध जाता है।

६. दु-प्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीर-पुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व॥

छाया—दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुहेया अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिक् इव॥

अर्थ—ये काम-भोग बड़ी कठिनता से छोड़े जाते हैं। मानसिक कष्ट न सह सकने वाले पुरुषों से ये सरलता से नहीं छोड़े जाते; किन्तु जो सुव्रती साधु हैं वे वणिक् के सदृश इस विषय-वासना के दुस्तर महासमुद्र को संयम की दृढ़ महानौका द्वारा तर जाते हैं।

७. समणामु एगे वयमाणा, पाण-वहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा निरयं गच्छंति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं॥

[६] वा—अ, इ, ल।
[७] समणा मु—उ, ऋ, ल; समणानुएगे (समणा नु एगे)—इ।
वदमाणा—इ। नरयं—ऋ।

†. अथ विकल्पे पृ ४३ S.

‡. स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गति स्त्रियाम्। —अमरकोष १।९।१॥

वाले श्रेष्ठ मुनिवर उन चोरों को कर्म-पाश से छुड़ाने के लिये इस प्रकार बोले।

४. सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु काम-जाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई॥

छाया—सर्वं ग्रन्थं कलहञ्च, विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः।
सर्वेषु कामजातेषु, पश्यन्न लिप्यते त्रायी॥

अर्थ— भिक्षु सब प्रकार की आसक्तियों तथा क्लेशों और इस प्रकार के राग एवं द्वेषों को विशेष प्रयत्न द्वारा छोड़े। राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले अनर्थों को देखता हुआ आत्म-रक्षक सावधान साधक, जिन क्रियाओं में आसक्ति उत्पन्न होती है, उन सब क्रियाओं में लिप्त नहीं होता।

५. भोगामिस-दोस-विसण्णे, हिय-निस्सेयस-बुद्धि-वोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि॥

छाया— भोगामिषदोषविषण्णः, हितनिश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिका इव श्लेष्मणि॥

[४] लिप्पई—अ, इ, ऋ।

[५] बज्झई—अ, इ, उ, ऋ।

†. स्वार्थे कप्रत्ययः इकारश्च।

‡. भोगार्थं यो मांसपिण्डः, तस्मिन् ये दोषाः रागद्वेषादयः, तेषु यो विषण्णः।

अर्थ—अपने हित एवं कल्याण की बुद्धि से विपरीत बना हुआ, आमिष के सदृश घृणित एवं अनेकों दोषों को उत्पन्न करने वाले भोगों में लोलुप हुआ अपने हिताहित को न समझने वाला तथा मन्द-बुद्धि-युक्त अज्ञानी जीव श्लेष्म में मक्षिका के समान संसार में बँध जाता है।

६. दु-प्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीर-पुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥

छाया—दुष्परित्यजा इमे कामाः, नो सुहेया अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिज इव ॥

अर्थ—ये काम-भोग बड़ी कठिनता से छोड़े जाते हैं। मानसिक कष्ट न सहन करने वाले पुरुषों से ये सरलता से नहीं छोड़े जाते; किन्तु जो सुव्रती साधु हैं वे वणिक के सदृश इस विषय-वासना के दुस्तर महासमुद्र को संयम की दृढ़ महानौका द्वारा तैर जाते हैं।

७. समणामु एगे वयमाणा, पाण-वहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा निरयं गच्छंति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥

[६] या—अ, इ, ल।
[७] समणा मु—उ, आ, ल; समणानुएगे (समणा नु एगे)—इ।
वदमाणा—इ। नरयं—अ।
†. अथ विकल्पे पृ ४३ S.
‡. स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गति स्त्रियाम्। —अमरकोष १।९।१॥

छाया—श्रमणाः स्मः एके वदन्तः, प्राणवधं मृगा अजानन्तः।
मन्दा निरयं गच्छन्ति, बालाः पापिकाभिर्दृष्टिभिः॥

अर्थ—कोई एक मृग सदृश अज्ञानी जीव हिंसा के स्वरूप को न समझते हुए ऐसा बोलते हैं कि हम साधुपने का आचरण कर रहे हैं, किन्तु मन्द-बुद्धि वे अज्ञानी अपनी पापकारी दृष्टि के कारण नरक में जा पड़ते हैं।

८. न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्व-दुक्खाणं।
एवमारिएहिं अक्खायं, जेहिं इमो साहु-धम्मो पण्णत्तो॥

छाया—न हि प्राणवधमनुजानन्, मुच्येत कदाचित् सर्वदुःखेभ्यः।
एवमार्यैराख्यातं, यैरेष साधुधर्मः प्रज्ञप्तः॥

अर्थ—जिन्हों ने यह साधु-धर्म बताया है उन आर्य महापुरुषों ने इस प्रकार कहा है कि हिंसा की अनुमोदना करने वाला (हिंसा को बुरा न समझने वाला) व्यक्ति निश्चय ही सब दुःखों से कभी नहीं छूट सकता।

९. पाणे य नाइवाएज्जा, से समिए त्ति वुच्चइ ताई।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ॥

[८] एवारिएहिं—अ; एवायरिएहिं—इ; एवं आयरिएहिं—ऋ।
[९] समीइ त्ति—अ,इ; समीए त्ति—इ; समीय त्ति—ऋ। थालीओ—इ।

†. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥६।१।१३२॥पा०॥
‡. वेदं-तदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ॥८।३।८१॥ हे० ॥

छाया—प्राणान् यो नातिपातयेत्, स समित इत्युच्यते त्रायी ।
ततस्तस्य पापकं कर्म, निर्यात्युदकमिव स्थलात् ॥

अर्थ—जो प्राणियों की हिंसा न करे, वह अहिंसक 'समिति से युक्त (विवेकी) है' ऐसा कहा जाता है; तब उसकी आत्मा से पाप-कर्म ऐसे निकल जाते हैं जैसे स्थल (चटियल मैदान) से पानी निकल जाता है ।

१०. जग-निस्सिएहिं भूएहिं, तस-नामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥

छाया—जगन्निश्रितैः भूतैः, त्रसनामकैः स्थावरैश्च (संसारोऽयम्) ।
न तेषु दण्डमारभेत, मनसा वचसा कायेन चैव ॥

अर्थ—लोकाश्रित त्रस नाम के और स्थावर नाम के जीवों से यह संसार व्याप्त है । साधक मन वचन और काया द्वारा भी उन की हिंसा न करे ।

११. सुद्धेसणाओ णच्चाणं, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ।
जायाए घासमेसेज्जा, रस-गिद्धे न सिया भिक्खाए ॥

छाया—शुद्धैषणां ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ।
यात्रार्थं ग्रासमेषयेत्, रसगृद्धो न स्याद् भिक्षायाः (विषये) ॥

[११] सुद्धेसणाउ—इ, ऋ । घासमेसिज्जा—उ ।

अर्थ— इस मनुष्य-जन्म में जो अपने जीवन को अनियमित बनाते हैं वे समाधि-योगों से परिभ्रष्ट हो जाते हैं और वे काम-भोग एवं रसों में गृद्धित हो कर आसुरी गति में जा पड़ते हैं।

१५. तत्तो वि य उवट्टित्ता, संसारं बहु अणुपरियट्टंति।
बहुकम्म-लेव-लित्ताणं, बोही होइ सु-दुल्लहा तेसिं॥

छाया—ततोऽपि च उद्वृत्य, संसारं बहुमनुपर्यटन्ति।
बहुकर्मलेपलिप्तानां, बोधिर्भवति सुदुर्लभा तेषाम्॥

अर्थ— वहां से निकल कर भी फिर वे इस संसार में बहुत समय तक बार-बार परिभ्रमण करते हैं। गाढ कर्मों के लेप से युक्त होने के कारण उन्हें सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति अति-दुर्लभ हो जाती है।

१६. कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

छाया—कृत्स्नमपि यत् (कोऽपि) इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।
तेनापि स न सन्तुष्येत्, इति दुष्पूरकोऽयमात्मा॥

अर्थ— यदि कोई धन-धान्य से परिपूर्ण यह समग्र लोक भी किसी एक को दे देवे तो भी उस से वह लोभी जीव

[१६] कसिणंपि—अ, ऋ, लृ; कसिणं वि—उ। संतूसे—इ।

सन्तुष्ट नहीं होने को आता। अतः इस आत्मा का लोभ दुष्पूर है।

१७. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो-मास-कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं॥

छाया—यथा लाभस्तथा लोभः, लाभाल्लोभः प्रवर्धते।
द्विमासकृतं कार्यं, कोट्यापि न निष्ठितम्॥

अर्थ— जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ होता जाता है। लाभ से लोभ भड़कता है जैसे कि दो मासे स्वर्ण के लिये किया गया कार्य करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से भी पूरा न हुआ।

स्त्री-संसर्ग एवं सहवास की निन्दा—

१८. नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंड-वच्छासु ऽणेग-चित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं॥

छाया—न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु।
याः पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा वा दासैः॥

---

[१७] पवट्टई—इ; पवड्डई—अ, ऋ।

[१८] खेलन्ति—इ, उ।

†. द्विन्योरुत् ॥८।१।९४॥ हे० ॥ क्वचिद् ओत्वमपि ॥

अर्थ—वक्षःस्थल पर जिन के मांस पिण्ड लटक रहा है और जिन का चित्त अनेक स्थानों पर गया हुआ है तथा जो पुरुषों को मोहित करके—अपने वश में करके उन से ऐसा व्यवहार करती हैं जैसे कोई दासों से किया करता है—ऐसी राक्षसी समान स्त्रियों में साधक आसक्त न होवे।

१९. नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं॥

छाया—नारीषु नोपगृध्येत्, स्त्रीर्विप्रजह्यादनगारः।
धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा, तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्॥

अर्थ—साधु स्त्रियों की समीपता में गृद्धित न होवे अपितु स्त्रियों से विशेषरूप से भली प्रकार दूर रहे तथा भिक्षु इस धर्म को आनन्द का स्थान मान कर उसी में अपने को स्थित करे।

उपसंहार—

२०. इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्ध-पण्णेणं।
तरिहिंति जे उ काहिंति, तेहिं आराहिया दुवे लोगं; त्ति बेमि॥

इअ काविलियं अट्ठमं अज्झयणं समत्तं ॥८॥

---

[१९] गिज्झिज्जा—उ। नच्चा—अ, इ, ल। ठविज्ज—इ।
[२०] इइ—इ, उ, ऋ। लोगा—एक हस्त-लिखित प्रति।

छाया—इत्येष धर्म आख्यातः, कपिलेन च विशुद्धप्रज्ञेन।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति, तैराराधितौ द्वौ लोकौ; इति ब्रवीमि॥

इति कापिलिकमष्टममध्ययनं समाप्तम् ॥८॥

अर्थ—इस प्रकार यह धर्मोपदेश निश्चय से विशुद्ध-ज्ञानी कपिल भगवान् ने प्रतिपादन किया है। जो कोई इस के अनुसार आचरण करते हैं वे दोनों लोकों के आराधक होते हैं और इस प्रकार संसार समुद्र से तिर जाते हैं; इस प्रकार मैं कहता हूँ।

यह कपिल-केवलीय नामक आठवां अध्ययन समाप्त हुआ ॥८॥

११. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

अर्थ—तब देवेन्द्र इस बात को सुन कर और हेतु एवं कारण से प्रेरित होकर नमि राजर्षि से यह बोला—

प्रश्न २—

१२. एस[1] अग्गी[2] य[3] वाऊ[4] य[†][5], एयं[6] डज्झइ[φ][11] मन्दिरं[7] ।
भयवं[8] ! अन्तेउरं[10] ते[9] णं[‡], कीस[§][12] णं[§][14] नावपेक्खह[13] ? ॥

छाया—एषोऽग्निश्च वायुश्च, एतद् दहति मन्दिरम् ।
भगवन् ! अन्तःपुरं तव, कस्मान्नावप्रेक्षसे ॥

अर्थ—यह[1] अग्नि[2] और[3] वायु[4] मिल कर[5] इन[6] मकानों को[7] और भगवन्[8] ! आप के[9] अन्तःपुर को[10] भस्म किये जा रहो[11] हैं, आप किस लिये[12] इधर[13] ध्यान नहीं दे रहे हैं[14] ?

---

[११] हेऊ—अ, ल; हेओ—इ ।

[१२] वाओ—इ । तेणं—अ, इ, उ, ऋ, लृ । नावपिक्खह—इ ।

†. च अविनियोगे ।

φ. वाच्यव्यत्ययेन कर्मभावः ।

‡. णं वाक्यालङ्करणे, अथवा 'तेणं' यथा 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' इत्यादिषु सप्तम्यर्थे तृतीया आर्षे, एवमत्रापि षष्ठ्यर्थे तृतीया ।

$. किमो डिणो-डीसौ ॥८।३।६८॥ हे० ॥ ङसेर्वा भवति ॥

§. णं वाक्यालङ्करणे, अथवा 'तदो णः स्यादौ क्वचित्' ॥८।३।७०॥हे०॥

१७. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं, देविन्दो इणमब्बवी॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणनोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं, देवेन्द्र इदमब्रवीत्॥

अर्थ—तब देवेन्द्र इस बात को सुन कर एवं हेतु और कारण से प्रेरित होकर नमि राजर्षि से यह बोले—

प्रश्न ३—

१८. पागारं कारइत्ताणं, गोपुरट्टालगाणि यं।
उस्सूलग-सयग्घीओ, तओ गच्छसि खत्तिया!॥

[१७] हेऊ—अ, इ, ल।
[१८] च—अ। उस्सूलग सयग्धीओ—अ।

‡. पुरद्वारं तु गोपुरम्—अमर कोष २।३।१६॥ गुपू रक्षणे (भ्वा० प० से०) बाहुल्कादुरच्। गोपायति इति गोपुरम्॥

§. कई प्रतियों में 'उसूलग' और वृत्तिकार कमलसंयमी उपाध्याय जी की प्रति में 'उच्छूलग' पाठ है। किन्तु सभी इस का अर्थ 'खातिका' करते हैं जोकि दुर्ग के अथवा नगर के चारों ओर होती है तथा प्रच्छन्न-गर्त भी अर्थ किया गया है जोकि सैनिक दृष्टि से बनाए जाते हैं, जिन्हें कि आज-कल Pill-Box कहते हैं। सभी ने इस शब्द को देशीय माना है, किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने 'देशीनाममाला' कोश में यह शब्द नहीं दिया है।

'उस्सूलग' शब्द के साथ ही 'सयग्घी' शब्द है। तोपें शत्रु का दूर से हनन करती हैं किन्तु सैनिकों को समीपवर्ती युद्ध भी करना होता है जहां कि पुरावर्ती काल में नेज़े भाले काम आते थे, इस लिये हम ने 'उस्सूलग' शब्द को देशीय न मान कर उत्शूलक का तद्भव माना है।

छाया—प्राकारं कारयित्वा, गोपुराट्टालकानि च ।
उत्शूलकशतघ्नीः, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

अर्थ—हे क्षत्रिय ! पहले अपने नगर का कोट एवं खाई बनवाओ, नगर के द्वार एवं अट्टालिकाएं खड़ी करवाओ तथा नेज़े भाले एवं तोपें तय्यार करवाओ, तब दीक्षा के लिये जाना ।

१९. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

अर्थ—यह बात सुन कर तदनन्तर हेतु एवं कारण से प्रेरित हो कर नमि राजर्षि देवेन्द्र से यह बोले—

उत्तर—(निभिर्विशेपकम्)

२०. सद्धं नगरं किच्चा, तव-संवरमग्गलं ।
खन्तिं निउण-पागारं, ति-गुत्तं दुप्पधंसयं ॥

[१९] हेऊ—अ, इ, ल । देवेन्दे—इ ।

[२०] खन्तीनिउणपागारं—इ ।

†. इकाण्णादाभ्यश्चाः ।२।३।१३७।जैन०॥ त्तप्रत्ययस्य ॥ 'इः कादीनां स्वरस्य चि' ।३।१।३९॥ जैन० ॥

छाया—प्रासादान् कारयित्वा, वर्द्धमानगृहाणि च ।
बालाग्रपोतिकाश्च, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

अर्थ—हे क्षत्रिय ! राज-महल एवं स्वस्तिका आकार वाले वर्द्धमान गृहों का तथा छह ऋतुओं में सुख देने वाले वलभी घरों व जल-क्रीडा करने वाले पोतिका घरों का निर्माण करवा कर फिर दीक्षा के लिये जाना ।

२५. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

अर्थ—तब नमि राजर्षि यह सुभाव सुन कर तथा हेतु एवं कारण से प्रेरित होकर देवेन्द्र से यह बोले—

उत्तर—

२६. संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥

---

[२५] हेऊ—अ, इ, ल । देवेन्दं—इ ।

[२६] कुणइं—अ, इ, भ ।

१. गृहस्य घरोऽपतौ ॥८।२।१४४॥हे०॥

३३. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

अर्थ—यह प्रस्ताव सुन कर हेतुकारण से प्रेरित नमि राजर्षि तब देवेन्द्र से यूं बोले—

उत्तर—

३४. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

छाया—यः सहस्रं सहस्राणां, सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानं, एष तस्य परमो जयः ॥

अर्थ—जो दुर्जय संग्राम में हज़ारों के हज़ार (दस लाख) सुभटों को जीते और एक अपनी आत्मा को जीते, तो उस की यह उत्कृष्ट जीत है ।

३५. अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पणा चेव† अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

---

[३३] हेऊ—अ, इ, ल । देवेन्दं—इ ।

[३५] अप्पणामेवमप्पाणं—अ, ऋ; अप्पाणमेवमप्पाणं—इ, उ; हस्तलिखित प्रतियों में दूसरे 'म' के स्थान में 'अ' है तथा संस्कृत टीकाओं के एवं आधुनिक मुद्रित प्रतियों के मूलपाठ में दोनों 'म' नहीं हैं ।

†. च अन्वाचये पृष्ठ ४५ †.

छाया—घोराश्रमं त्यक्त्वा, अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम् ।
इहैव पौषधरतः, भव मनुजाधिप ! ॥

अर्थ—हे नराधिपति ! इस घोराश्रम (गृहस्थाश्रम) का त्याग करके अन्य आश्रम (संन्यासाश्रम) की इच्छा करते हो—यह ठीक नहीं ! तुम्हें इस गृहस्थाश्रम में ही पौषधों में रत होकर रहना चाहिये ।

४३. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

अर्थ—यह उपालम्भ सुन कर नमी राजर्षि हेतुकारण से प्रेरित होकर फिर देवेन्द्र से इस प्रकार बोले—

उत्तर—

४४. मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुक्खाय-धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥

छाया—मासे मासे तु यो बालः, कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यातधर्मस्य, कलामर्हति षोडशीम् ॥

---

[४३] हेऊ—अ, इ, ह । देविन्दं—इ ।

[४४] सुयक्खाय—द; सुअक्खाय— उ, ह ।

१. देखो विशेष पृ० ७३ १.

२. लुक् ॥८।१।१०॥ हे० ॥ स्वरस्य स्वरे परे बहुलं लुग् भवति ॥

४६. हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं, कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं वड्ढावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

छाया—हिरण्यं सुवर्णं मणिमुक्तम्, कांस्यं दूष्यं च वाहनम् ।
कोशं वर्धयित्वा, ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

अर्थ—हे क्षत्रिय ! नाना प्रकार के आभूषण, स्वर्ण, मणि, मोती, सुन्दर थाल आदि कांस्य बरतन, मूल्यवान् रेशम आदि के वस्त्र और अनेक प्रकार के वाहनों से अपना भण्डार भरपूर करके फिर दीक्षार्थ जाना !

---

[४५] हेऊ—अ, ड, ढ ।

S. हिरण्यं घटितं हेम, सुवर्णमघटितमिति वृत्तिकारः कमलसंयमोपाध्यायः ॥

४७. एयमट्ठं निसामित्ता, हेउकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी, देविन्दं इणमब्बवी ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

अर्थ—यह प्रार्थना सुन कर हेतुकारण से प्रेरित नमि राजर्षि फिर देवेन्द्र से इस प्रकार बोले—

उत्तर—(शक्र)

४८. सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलास-समा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगास-समा अणंतिया ॥

[४७] हेऊ—अ, इ, ल । देविन्दं—इ ।

[४८] रूप्पस्स—इ । तेहिं—अ, इ ।

†. ह्रस्वः संयोगे ॥८।१।८४॥ हे० ॥

‡. तु विशेष पृ० ७२ †.

S. देखो पृष्ठ ५९ ‡.

सिआ=कदाचित्, अनेकान्त—पाइअसद्दमहण्णवो ।

§. भिसो हि-हिँ-हिं ॥८।३।७॥ हे० ॥

छाया—एतमर्थं निशम्य, हेतुकारणचोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः, देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

अर्थ—यह आशंका सुन कर हेतुकारण से प्रेरित नमि राजर्षि फिर देवेन्द्र से यूं बोले—

उत्तर—

५३. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसी-विसोवमा ।
कामे यँ पत्थेमाणा, अ-कामा जन्ति दुग्गइं ॥

छाया—शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः ।
कामाँश्च प्रार्थयमानाः, अकामा यन्ति दुर्गतिम् ॥

अर्थ—काम-भोग शल्यरूप हैं, काम-वासना विष-तुल्य है, काम-विकार आशीविष सर्प के समान हैं और कामभोग की सामग्री न होने पर भी, विषय की इच्छा-मात्र से जीव दुर्गति में जाते हैं ।

५४. अहे वयन्ति कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया • गई पडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं ॥

छाया—अधो व्रजन्ति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः ।
मायया (सु)गतिप्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥

अर्थ—क्रोध के कारण जीव अधोगति में जाते हैं, मान करने से नीच गति मिलती है, छल-कपट से सुगति विगड़ती है और लोभ से दोनों लोक भयावह बनते हैं ।

प्रकरण का उपसंहार—

५५. अवउज्झिऊण माहण-रूवं, विउव्विऊण इ‌ंदत्तं ।
वन्दइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥

छाया—अवोज्झय ब्राह्मणरूपं, विकुर्वि(कृ)त्वा इन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन्, एभिर्मधुराभिर्वल्गुभिः ॥

अर्थ—अब इन्द्र अपने ब्राह्मण का रूप छोड़ कर और इन्द्र-पने की ऋद्धि का वैक्रिय करके इन मधुर वचनों से ऋषि की भक्ति-पूर्वक स्तुति करता हुआ उन्हें वन्दना करता है ।

५६. अहो ! ते निज्जिओ कोहो, अहो ! माणो पराजिओ ।
अहो ! निरक्किया माया, अहो ! लोभो वसी-कओ ॥

---

[५५] विउव्विऊण—इ । अभित्थुणन्ता—इ । इमाहिं—उ ।
[५६] लोहो—उ, लृ ।

†. उज्झ् उत्सर्गे, तुदादि १३ ॥
‡. उपसर्गात्सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति० ॥८।३।६५॥पा०॥
§. अहो च ॥८।१।४०॥पा०॥ पूजायाम् ।
अहो विस्मये हर्षे च, तथा भूरि-प्रशंसायाम् ।

अर्थ—चक्र और अंकुश के चिन्हों से युक्त श्रेष्ठ मुनि नमिराज के चरण-कमलों में नमस्कार करने के पश्चात् हिलते हुए सुन्दर कुण्डल और मुकुट वाला इन्द्र आकाश-मार्ग से चला गया (अन्तर्धान हो गया)।

६१. नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं च वेदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥

छाया—नमिर्नमयत्यात्मानं, साक्षात् शक्रेण नोदितः ।
त्यक्त्वा गृहं च वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष रूप से शक्रेन्द्र द्वारा प्रेरित प्रशंसित एवं वन्दित होने पर भी नमि राजर्षि अपने आप को नम्र बनाते हैं और विशाल ऋद्धि के स्वामी घर-बार व परिवार को छोड़ कर साधु-पने में रंग जाते हैं।

अध्ययन का उपसंहार—

६२. एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसि;त्ति बेमि ॥

इअ नमि-पव्वज्जा नामं नवमं अज्झयणं समत्तं ॥९॥

---

[६१] विदेही—इ ।

[६२] करन्ति—इ ।

§. विशेषेण देहः (उपचयः) यस्य । स्वार्थेऽण् । वैदेहः । सोऽस्यास्ति इति णिनिः ॥

†. ह्रस्वः संयोगे ॥८।१।८४॥ हे०॥

५. पुढवि-कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

छाया—पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

अर्थ—हे गौतम ! पृथ्वीकाय में फँसा हुआ जीव यदि उत्कृष्ट रूप से वहां रहे तो असंख्यात काल तक वहीं रहे. इस लिये समय-मात्र भी प्रमाद मत कर !

६. आउ-क्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

छाया—अप्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

अर्थ—अप् काय में चला गया जीव वहां यदि उत्कृष्ट रूप से रहे तो असंख्यात काल लग जाए, अतः हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद मत कर !

७. तेउ-क्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

छाया—तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

---

[७] तेओ—इ ।

†. त्रु भेदे ।

‡. कस्कादिषु च ॥८।३।४८॥पा।

२४. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से जिब्भ-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

छाया—परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तज्जिह्वाबलञ्च हीयते, समयं गौतम ! मा प्रमादयेः ॥

अर्थ—तुम्हारा शरीर कृश हुआ जाता है, केशों में श्वेतता आ रही है और वह जिह्वा का बल कम होता जा रहा है, अतः हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद मत कर !

२५. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से फास-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

छाया—परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् स्पर्शबलञ्च हीयते, समयं गौतम ! मा प्रमादयेः ॥

अर्थ—तुम्हारी शरीर की स्वस्थता घटती जा रही है, केश अपना रंग छोड़ते जा रहे हैं और वह स्पर्श-शक्ति कम होती जा रही है, अतः हे गौतम ! समय-भर का भी प्रमाद मत कर !

२६. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्व-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

छाया—परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् सर्वबलञ्च हीयते, समयं गौतम ! मा प्रमादयेः ॥

अर्थ—तुम्हारा शरीर विकृत होता जा रहा है, केश झड़ते

1. ह्वो भो वा ॥८।२।५७॥ हे०॥

३०. अवउज्झिय मित्त-बन्धवं, विउलं चेव धणोह-संचयं।
मा तं विइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए॥

छाया—अवोज्झय मित्रबान्धवं, विपुलं चैव धनौघसञ्चयम्।
मा तद् द्वितीयं गवेषय, समयं गौतम ! मा प्रमादयेः॥

अर्थ—मित्र-प्यारे सगे-सम्बन्धी और एकत्रित किये धन के इन सब विशाल ढेरों को निश्चित रूप से छोड़ कर, हे गौतम ! फिर इन के पीछे मत भागो और समय-मात्र का भी प्रमाद मत करो !

३१. 'न हु जिणे अज्ज दीसइ, बहु-मए दीसइ मग्ग देसिए।'
संपइ णेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए॥

छाया—न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गो देशितः।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समयं गौतम ! मा प्रमादयेः॥

अर्थ—भविष्यत् काल में भव्य जीव 'आज कोई तीर्थंकर देव दिखाई नहीं दे रहे हैं किन्तु उन द्वारा प्रतिपादित बहुत लोगों से मान्य मार्ग दिखाई दे रहा है' ऐसा विचार कर आत्म-

[३१] दिस्सई—अ, इ, ऋ, ल। दिस्सइ—अ, इ, ऋ, ल।

†. अव त्यागो परिभवे वियोगाल्म्बशुद्धिषु।
इपदर्थेऽपि विज्ञानेऽपि,........ ॥७०॥
—विश्वलोचनकोशः॥

साधना में रत रहेंगे और हे गौतम[11] ! तुम्हें तो अब[12] साक्षात् न्याय-कारी[13] मार्ग[14] मिला हुआ है. अतः समय-मात्र[15] का भी प्रमाद[16] मत[17] करो !

३२. अवसोहिय[3] कण्टगा[1]-पहं[2], ओइण्णो[7]ऽसि[8] पहं[6] महालयं[5]।
गच्छसि[11] मग्गं[10] विसोहिया[9], समयं[12] गोयम[4] ! मा[14] पमायए[13] ॥

छाया—अवशोध्य कण्टकपथं, अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयम्।
गच्छसि मार्गं विशोध्य, समयं गौतम ! मा प्रमादयेः ॥

अर्थ—कण्टक[1]-पंथ[2] को दूर[3] करके हे गौतम[4] ! तुम राज[5]-पंथ[6] पे आगए[7] हो[8], इस का भी विशोधन[9] करते हुए सही दिशा[10] में जा रहे[11] हो, अतः एक समय[12] का भी प्रमाद[13] न करते[14] हुए सदा सावधान रहो !

३३. अबले[3] जह[2] भार[1]-वाहए[4], मा[5] मग्गे[12] विसमे[7]ऽवगाहिया[6][8]।
पच्छा[9] पच्छाणुतावए[10], समयं[13] गोयम[11] ! मा[15] पमायए[14] ॥

छाया—अबलो यथा भारवाहकः, मा मार्गं विषममवगाह्य।
पश्चात्पश्चादनुतापकः (अभूः) समयं गौतम ! मा प्रमादयेः ॥

अर्थ—जैसे[1] बल[2]-हीन[3] भार[4]-वाहक[5] विषम[6]-मार्ग[7] के अपनाने[8] के पश्चात्[9] पश्चात्ताप[10] करता है, इस प्रकार हे गौतम[11] ! तुम ने[12] मत करना, अतः समय[13] का भी मकर-प्रमाद[14] मत[15] करो !

---

[३२] अवसोहियकण्टगापहं—इ; कण्टगा पहं—अ, उ।

३४. तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए॥

छाया—तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

अर्थ—हे गौतम! निश्चय ही तुम इस महा-समुद्र को तिर चुके हो, फिर क्यों किनारे पर आकर अटक गए हो, पार पाने के लिए ज़रा और प्रयत्न करो और एक समय का भी प्रमाद मत होने दो!

३५. अकलेवर-सेणिं ऊसिया, सिद्धिं गोयम! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं गोयम! मा पमायए॥

छाया—अकलेवरश्रेणिमुच्छ्रित्य, सिद्धिं गौतम! लोकं गच्छसि।
क्षेमञ्च शिवमनुत्तरं, समयं गौतम! मा प्रमादयेः॥

अर्थ—हे गौतम! शरीर-रहित की ऋजु श्रेणि से ऊर्ध्व-गति करके तुम उत्कृष्ट कुशल एवं कल्याण रूप सिद्धि-स्थान को प्राप्त करोगे, अतः हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो!

---

[३५] ऊसिया—इ, उ, ऋ।

†. सान्तमहतः संयोगस्य ॥६।४।१०॥पा०॥

‡. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ॥३।३।१३१॥पा०॥

३६. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गाम-गए नगरे व संजए।
संति-मग्गं च वूहए, समयं गोयम! मा पमायए॥

छाया—बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः, ग्रामगतो नगरे वा संयतः।
शान्तिमार्गञ्च बृंहयेः, समयं गौतम! मा प्रमादयेः॥

अर्थ—सम्यग् ज्ञान से युक्त (गीतार्थ) साधक ग्राम में गया हुआ अथवा नगर में आया हुआ इन्द्रिय एवं मन को वश में रखते हुए स्वस्थ-चित्त से विचरण करे और शान्ति-मार्ग का प्रसार करे—इस कार्य में हे गौतम! समय-भर का भी प्रमाद न करो।

३७. बुद्धस्स निसम्म भासियं, सु-कहियमट्ठ-पओवसोहियं।
रागं दोसं च छिंदिया, सिद्धि-गइं गए गोयमे; त्ति बेमि॥

इअ दुम-पत्तयं नामं दसमं अज्झयणं समत्तं ॥१०॥

छाया—बुद्धस्य निशम्य भाषितं, सुकथितमर्थपदोपशोभितम्।
रागं द्वेषञ्च छित्वा, सिद्धिगतिं गतो गौतमः; इति ब्रवीमि॥

इति द्रुमपत्रकं नाम दशममध्ययनं समाप्तम् ॥१०॥

[३६] सन्ती—अ, इ, ऋ। वूहए—अ, ल।

८. अवि पाव-परिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सु-प्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावयं ॥

९. पइण्ण-वाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अ-णिग्गहे ।
अ-संविभागी अ-वियत्ते, 'अविणीए' त्ति वुच्चई ॥

छाया—अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति ।
मैत्र्यमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥
अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति ।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥
प्रकीर्णवादी द्रुहिलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।
असंविभागी अव्यक्तः, अविनीत इत्युच्यते ॥

अर्थ—जो (१) बार-बार क्रोधी बनता है, (२) किसी अपराध एवं दोष की गांठ बान्ध लेता है, (३) मित्रता करके स्वार्थ-वश अकारण ही त्याग देता है, (४) श्रुत-ज्ञान प्राप्त करके अभिमान करता है, (५) अपना दोष दूसरों पर लगाता है,

[८] कुप्पइ—अ, इ, ऋ ।
[९] पइन्नवाई—इ, उ, ऋ । वुच्चई—अ, इ, उ, ऋ ।

†. अपि गर्हायाम् ।

‡. बुरी बातों की इधर-उधर चर्चा करते रहना—ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है ।

§. समासानां दीर्घः स्यनि ॥५।३।७४॥पा०॥

(५) दूसरों की निन्दा—बुरा-भला करना एवं तिरस्कार नहीं करता है, (६) किसी के अपराध की गाँठ नहीं बाँधता है (७) जो मित्रता पूर्ण निभाता है, (८) श्रुत-ज्ञान प्राप्त करके अभिमान नहीं करता है, (९) अपना दोष दूसरों पर नहीं लगाता, (१०) अपने मित्रों पर कुपित नहीं होता, (११) अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई करता है, (१२) क्लेश और उल्टा-पल्टी से रहित, (१३) ज्ञान-युक्त शिक्षाचारी, (१४) अनुचित कार्यों में लज्जा करने वाला और (१५) अपनी इन्द्रियों एवं मन को वश में रखने वाला है 'वह सुविनीत है' ऐसा कहा जाता है।

१४. वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियं-करे पियं-वाई, से सिक्खं लद्धुमरिहइ॥

छाया—वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवान् उपधानवान्।
प्रियङ्करः प्रियवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति॥

अर्थ—सदा गुरुजनों के वातावरण में रहे। उस वातावरण में अपने तीनों योगों को लगाने वाला एवं विशिष्ट तपोऽनुष्ठान करने वाला तथा गुरुजनों को जो कार्य प्रिय हैं उन्हें करने वाला तथा मीठे वचन बोलने वाला जो होता है वह शिक्षा प्राप्त करने के योग्य है।

---

[१४] लद्धुमरिहई—अ, इ, उ, ऋ।

(६ उपमाएं)

(१) बहुश्रुत की निर्मलता—

१५. जहा संखम्मि पयं, निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू, धम्मो कित्ती तहा सुयं॥

छाया—यथा शङ्खे पयो, निहितं द्विधापि विराजते।
एवं बहुश्रुते भिक्षौ, धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम्॥

अर्थ—जैसे शंख में डाला गया दूध दुगुना शोभा पाता है, इसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु का धर्म कीर्ति तथा विद्या उज्ज्वल बनती है।

(२) बहुश्रुत की कार्य के साधने की शक्ति—

१६. जहा से कम्बोयाणं, आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा स कम्बोजानां, आकीर्णः कन्थकः स्यात्।
अश्वो जवेन प्रवरः, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) कम्बोज देश में उत्पन्न (ख) शीलादि अनेक गुणों से युक्त वह कन्थक जाति का घोड़ा (ग) चलने के वेग में प्रधान होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (क) जैन-

[१५] निहित्तं—इ। विरायए—उ।

†. अपि निश्चयार्थे—पद्मचन्द्रकोष पृ० ५६॥

‡. (क) (ख) आदि गाथा में आई हुई उपमा के उपनय के क्रमाङ्क हैं।

छाया—यथा स वासुदेवः, शङ्खचक्रगदाधरः।
अप्रतिहतबलो योधः, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) शंख चक्र और गदा का धारी (ख) अतुल बली वह वासुदेव (ग) योधा होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (क) ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से युक्त, (ख) शुद्ध विचारों का बली (ग) काम क्रोध आदि अन्तरङ्ग रिपुओं से युद्ध मचाने वाला होता है।

(८) बहुश्रुत की ऋद्धि—

२२. जहा से चाउरन्ते, चक्कवट्टी महिड्ढिए।
चोद्दस-रयणाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा स चातुरन्तः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
चतुर्दशरत्नाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) चौदह रत्नों का स्वामी, (ख) महान ऋद्धि से युक्त (ग) चारों दिशाओं के अन्त तक अपनी आज्ञा चलाने वाला वह चक्रवर्ती होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (क) चौदह पूर्व तथा तदाश्रित ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नों का स्वामी एवं (ख) अनेक लब्धियों का धारी (ग) चारों दिशाओं की कीर्ति वाला मान्य-पुरुष होता है।

---

[२२] महिड्ढिए—इ। महड्ढिए—क।

†. चतुरन्तायां (पृथिव्यां) भवः इति चातुरन्तश्चक्रवर्ती। (छाया-संशोधक)

(९) बहुश्रुत का [illegible]—

२३. जहा से सहस्सक्खे, वज्ज-पाणी पुरन्दरे।
सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा स सहस्राक्षः, वज्रपाणिः पुरन्दरः।
शक्रो देवाधिपतिः, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) हजार आँखों वाला (ख) हाथ में वज्र लिये हुए (ग) दैत्य-नगरों को नष्ट करने वाला (घ) देवताओं का स्वामी वह शक्रेन्द्र होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (क) ज्ञान एवं नयों की हजारों आँखों वाला (ख) क्षमा रूपी वज्र हाथ में लिये हुए (ग) मोह-दैत्य को नष्ट करने वाला (घ) साधकों का अधिपति होता है।

(१०) बहुश्रुत का तेज एवं प्रकाश—

२४. जहा से तिमिर-विद्धंसे, उच्चिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा स तिमिरविध्वंसी, उत्तिष्ठन्दिवाकरः।
ज्वलन्निव तेजसा, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) अन्धकार को दूर करने वाला (ख) वह उदय होता हुआ सूर्य (ग) अग्नि के समान जाज्वल्यमान एवं प्रकाशमान होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (क) मिथ्यात्व

---

[२४] उत्तिट्ठन्ते—इ, आ।

के अन्धकार को दूर करने वाला (ख) संयम में चढते परिणामों से युक्त (ग) शुभ लेश्याओं से महातेजस्वी एवं प्रकाश-पुञ्ज होता है।

(११) बहुश्रुत की संघ-शक्ति, सौम्यता एवं अन्य गुणों की पूर्णता—

२५. जहा से उडुवई चन्दे, नक्खत्त-परिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासिए, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा स उडुपतिश्चन्द्रः, नक्षत्रपरिवारितः।
प्रतिपूर्णः पौर्णमासिकः, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) नक्षत्रों का अधिपति (ख) नक्षत्र-परिवार से युक्त (ग) वह पूर्णमासी का परिपूर्ण चन्द्रमा सौम्याकृति वाला होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (क) अन्य साधकों का अधिकारी (ख) शिष्य-परिवार से युक्त (ग) मूल गुण एवं उत्तर गुणों से परिपूर्ण सौम्यता की मूर्ति होता है।

(१२) बहुश्रुत की धारणा-शक्ति—

२६. जहा से सामाइयाणं, कोट्ठागारे सु-रक्खिए।
नाणा-धन्न-पडिपुण्णे, एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२५] पुण्णमासीए—अ, इ, उ, ऋ।

†. ह्रस्वः संयोगे ॥८।१।८४॥ हे०॥

पत्र पुष्प एवं फलों से युक्त वह जम्बू नामक वृक्ष (घ) अन्य वृक्षों में प्रधान होता है, इसी प्रकार (ग) बहुत लोगों पर बहुप्रकार से उपकार करने वाला बहुश्रुत साधक (क) शासन-देव से अधिष्ठित (ख) शुभ लेश्या वाला (घ) अन्य साधकों में प्रधान होता है।

(१४) बहुश्रुत की निःश्रेयसता—

२८. जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा।
सीया नीलवंत-पवहा, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा।
'सीता' नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) नदियों में प्रधान (ख) नीलवन्त पर्वत से निकलने वाली एवं (ग) समुद्र में जा मिलने वाली वह सीता (घ) [शीतल जल वाली] नदी है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (ख) उत्तम कुल से आया हुआ (घ) श्रुतज्ञान के निर्मल शीतल जल से परिपूर्ण (क) अन्य साधकों में प्रधान (ग) मोक्ष में जाने वाला होता है।

(१५) बहुश्रुत की उच्चता एवं महत्ता—

२९. जहा से नगाण पवरे, सु-महं मन्दरे गिरी।
नाणोसहि-पज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए॥

पत्र पुष्प एवं फलों से युक्त वह जम्बू नामक वृक्ष (घ) अन्य वृक्षों में प्रधान होता है, इसी प्रकार (ग) बहुत लोगों पर बहुप्रकार से उपकार करने वाला बहुश्रुत साधक (क) शासन-देव से अधिष्ठित (ख) शुभ लेश्या वाला (घ) अन्य साधकों में प्रधान होता है।

(१४) बहुश्रुत की निःश्रेयसता—

२८. जहा सा नईण पवरा, सलिला सागरंगमा।
सीया नीलवंत-पवहा, एवं हवइ बहुस्सुए॥

छाया—यथा सा नदीनां प्रवरा, सलिला सागरंगमा।
'सीता' नीलवत्प्रवहा, एवं भवति बहुश्रुतः॥

अर्थ—जैसे (क) नदियों में प्रधान (ख) नीलवन्त पर्वत से निकलने वाली एवं (ग) समुद्र में जा मिलने वाली वह सीता (घ) [शीतल जल वाली] नदी है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक (ख) उत्तम कुल से आया हुआ (घ) श्रुतज्ञान के निर्मल शीतल जल से परिपूर्ण (क) अन्य साधकों में प्रधान (ग) मोक्ष में जाने वाला होता है।

(१५) बहुश्रुत की उच्चता एवं महत्ता—

२९. जहा से नगाण पवरे, सु-महं मन्दरे गिरी।
नाणोसहि-पज्जलिए, एवं हवइ बहुस्सुए॥

होने वाले एवं न ही दबाव में आने वाले, अङ्ग उपाङ्ग आदि श्रुत से पूर्ण, संसार-गर्त में गिरते हुए अनेकों की रक्षा करने वाले, अपने सब कर्मों को क्षय करके उत्तम-गति मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और हो रहे हैं।

अध्ययन का उपसंहार—

३२. तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा, उत्तमट्ठ-गवेसए।
जेणप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि; त्ति बेमि॥

इअ बहुस्सुय-पुज्जं नामं एगारसं अज्झयणं समत्तं॥११॥

छाया—तस्माच्छ्रुतमधितिष्ठेत्, उत्तमार्थगवेषकः।
येनात्मानं परञ्चैव, सिद्धिं सम्प्रापयेत्; इति ब्रवीमि॥

इति बहुश्रुतपूज्यत्वं नाम एकादशमध्ययनं समाप्तम्॥११॥

अर्थ—इसलिये साधक अपने को श्रुताभ्यास में लगावे और ज्ञान दर्शन चारित्र के उत्तम अर्थ की गवेषणा करे, जिस से वह अपने आप को एवं दूसरों को निश्चय से भली प्रकार मोक्ष प्राप्त करवा सके; ऐसा मैं कहता हूं॥

यह बहुश्रुत का अतिमहत्त्व बताने वाला 'बहुस्सुय-पुज्ज' नामक ग्यारहवां अध्ययन समाप्त हुआ॥११॥

---

†. प्राकृतत्वात् त्वप्रत्ययस्य लोपः।

अह हरिएसिज्जं बारहं अज्झयणं

१. सोवाग-कुल-संभूओ, गुणुत्तर-धरो मुणी ।
हरिएस-बलो नाम, आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥

छाया—श्वपाककुलसम्भूतः, उत्तरगुणधरो मुनिः ।
हरिकेशबलो नाम, आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः ॥

अर्थ—चाण्डाल कुल में उत्पन्न उत्तम गुणों के धारी हरिकेश बल नाम के एक भिक्षु जितेन्द्रिय मुनि हो चुके हैं ।

२. इरि-एसण-भासाए, उच्चार-समिईसु य ।
जओ आयाण-निक्खेवे, संजओ सु-समाहिओ ॥

छाया—ईर्येषणाभाषासु, उच्चारसमितिषु च ।
यत आदाननिक्षेपे, संयतः सुसमाहितः ॥

अर्थ—वह हरिकेश बल ईर्या-समिति, भाषा-समिति,

---

[२] समितीसु—इ ।

†. यथा पृष्ठ १ §.

‡. जिस के कपि जैसे (काले पीले का मिश्रण) असुन्दर भूरे कपिश केश हैं, किन्तु जो बलवान है ।

§. इरिय् गतौ ॥ जैन०॥१।२१॥

७. को रे! तुमं इयं अ-दंसणिज्जे !!,
काए यं आसा इहमागओ सि ? ।
ओम-चेलया-पंसु-पिसाय-भूया !
गच्छ ! क्खलाहि !! किमिहं ठिओ सि ? ॥ "

छाया—कोऽरे ! त्वमित्यदर्शनीय !!,
कया वाऽऽशयेहागतोऽसि ? ।
अवमचेलतापांशुपिशाचभूत !
गच्छ ! स्खल !! किमिह स्थितोऽसि ? ॥ "

अर्थ—अरे! इस प्रकार के घिणावणे रूप वाले!! तू कौन है? और किस आशा से यहां आया है? मैले कुचैले वस्त्रों वाले

[७] क्यरे— इ, उ, ऋ, लृ। एत्थ— इ। व—इ, उ, ऋ, लृ। आसाइहमागओ—अ, ऋ। इहमागओसि—लृ। ओमचेलगा पंसुपिसायभूया—इ, उ; ओमचेलया पंसुपिसायभूया—अ, ऋ, लृ। गच्छक्खलाहि—ऋ।

†. इति प्रकारार्थे—पृ० ६७ φ.
‡. कुत्सितेऽर्थे नञ् पृ० २१८ §.
§. हि-मि-मोप्वतः ॥३।२।३९॥ जैन० ॥ दीर्घः स्यात् ॥
£. अरे—नीच सम्बोधन, क्रोध से बुलाना। —पद्मचन्द्रकोष ॥
$. स्खल् संचलने, भ्वादिगण, परस्मैपदी।

यक्ष—

९. "समणो अहं संजओ बंभयारी,
विरओ धण-पयण-परिग्गहाओ ।
पर-प्पवित्तस्स उ भिक्ख-काले,
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥

छाया—"श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी,
विरतो धन-पचन-परिग्रहेभ्यः ।
पर-प्रवृत्तस्य तु भैक्ष्य-काले,
अन्नस्यार्थाय इहागतोऽस्मि ॥

अर्थ—"मैं श्रमण हूं, संयमी ब्रह्मचारी हूं और धन के सञ्चय, भोजन के पकाने तथा परिग्रह के संग्रह करने का त्याग किये हुए हूं। जो भोजन गृहस्थों ने अपने लिये ही बनाया है, भिक्षा के समय उस अन्न में से कुछ लेने के लिये मैं यहां आया हूं।

१०. वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई यं,
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं ।
जाणाहि मे जायण-जीविणुं त्ति,
सेसावसेसं लभउ तवस्सी ॥"

---

[९] इहमागओमि—इ, उ, लृ ।
[१०] भुज्जई—अ, इ, उ, ऋ । भुञ्जई,—अ, ऋ । एव—इ । जाणेह—अ । जीविणो त्ति—इ, उ । लहउ—लृ; लभओ—इ ।
†. वचनव्यत्ययेन बहुवचनम् ॥ 'ह्रस्वः संयोगे' ॥८।१।८४॥ हे०॥

छाया—"उपस्कृतं भोजनं ब्राह्मणेभ्यः,
आत्मार्थिकं सिद्धमिहैकपक्षम्।
न तु वयमीदृशमन्नपानं,
दास्यामस्तुभ्यं, किमिह स्थितोऽसि ?॥"

अर्थ—"यह भोजन ब्राह्मणों के लिये तय्यार किया गया है, यहां केवल एक-पक्षीय—ब्राह्मणों के अपने लिये यह निर्धारित है। ऐसा आहार-पानी हम तुझ को बिलकुल नहीं देंगे, इस लिये यहां क्यों ठहरे हुए हो ?"

यक्ष—

१२. "थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा,
तहेव निन्नेसु य आसंसाए।
एयाए सद्धाए दलाहि मज्झं,
आराहए पुण्णमिणं खु खित्तं॥"

छाया—"स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः,
तथैव निम्नेषु चाशंसया।
एतया श्रद्धया ददध्वं मह्यम्,
आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम्॥"

---

[१२] दलाहि—ड, ञ।

†. कृष्+ण्वुल्=कर्षकः।
क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषकश्च कृषीवलः। —अमरकोष २।९।६॥
लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः ॥८।१।४३॥हे०॥

‡. आशंसा=इष्टार्थप्रतीच्छा॥ 'विंशत्यादेर्लुक्' ॥८।१।२८॥हे०॥ अनुस्वारस्य॥

§. यथा पृष्ठ १५५ †.

मा एयं हीलेह अ-हीलणिज्जं,
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥"

छाया—महायशा एष महानुभावः,
घोरव्रतो घोरपराक्रमश्च ।
मा एनं हीलयत अहीलनीयं,
मा सर्वांस्तेजसा युष्मान् निर्धाक्षीत् ॥"

अर्थ—ये अतिकठिन व्रतों को धारण करने वाले एवं उग्र तपश्चरण में पराक्रम करने वाले महायशस्वी तथा महाप्रभावशाली सन्त हैं, ये अवहेलना के योग्य नहीं, अतः इनकी हीलना मत करो !, कहीं ये अपने तपस्तेज से तुम सब को भस्म न कर देवें ॥"

२४. एयाइं तीसे वयणाइं सोच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सु-भासियाइं ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे वि-णि-वारयन्ति ॥

[२३] एय—इ ।
[२४] इयाइं—इ, उ । वयणाइं—अ, इ, उ, ऋ । सुहासियाइं—अ, इ, उ ।

1. [illegible] ॥८।३।१३॥ हे० ॥ [illegible]

सोमदेव ब्राह्मण—

३०. ते[19] पासिया[22] खण्डिय[21]† कट्ठभूए[20],
विमणो[27] विसण्णो[28] अह[26] माहणो[23] सो[25]।[24]
इसिं[31] पसाएइ[32] स-भारियाओ[30],[29]
"हीलं[34] च[35] निन्दं[36] च[37] खमाह[38] भंते[33]! ॥"

छाया—अवहेठितपृष्ठसोत्तमाङ्गान्,
प्रसारितबाहून् अकर्मचेष्टान्।
प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमतः,
ऊर्ध्वमुखान् निर्गतजिह्वानेत्रान् ॥
तान् दृष्ट्वा काष्ठभूतखण्डिकान्,
विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्यकः,
"हीलनाञ्च निन्दाञ्च क्षमस्व भदन्त ! ॥"

अर्थ—शिर[1] सहित[2] पीठ[3] के बल भूमि पर लुढ़के[4] हुए हैं, भुजाएं[5] पसारे[6] बिना[7] चेष्टा-कर्म[8] के[9] हो गए हैं, आँखें[10] पथरा[11] गई

[३०] खण्डियकट्ठभूए--अ, उ, ल। खमेह--इ।

†. क्तादिभ्यस्तस्तयोर्यो वा ॥२।३।९५॥ जैन० ॥ क्ताप्रत्ययस्य तकार-द्वयस्य यकारादेशो वा स्यात् ॥

‡. समस्त पदों को असमस्त, शब्दों को एवं विभक्ति को आगे पीछे रखना यह प्राकृत-शैली है। यथा ऊपर की गाथा में 'पसारिया बाहु' भी है।

§. च समुच्चये ४५ †.

छाया—"किं ब्राह्मणाः! ज्योतिः समारभमाणाः,
उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ?
यां मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं,
न तत् स्विष्टं कुशला वदन्ति॥

अर्थ—"हे ब्राह्मणो! अग्नि का समारम्भ करने से क्या लाभ है? और जल द्वारा बाहर की शुद्धि ढूंढ रहे हो इस से क्या इष्ट-सिद्धि होती है? जो तुम बाहर की विशुद्धि की गवेषणा करते हो, उसे महापुरुषों ने अच्छा यज्ञ नहीं कहा है।

३९. कुसं च जूवं तण-कट्ठमग्गिं,
सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयंता,
भुज्जो वि मन्दा पकरेह पावं॥

छाया—कुशं च यूपं तृणकाष्ठमग्निं,
सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।
प्राणिनो भूतान् विहेठमानाः,
भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम्॥

[३९] पगरेह—अ, इ, उ, ऌ।

†. अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्। —अमरकोष॥२।४।१६६॥
कुशो रामसुते दर्भे, पापिष्ठे योक्त्रमत्तयोः।
कुशी लोहविकारे स्यात्, कुशा वल्गा कुशं जले॥
—हैमानेकार्थसंग्रहः॥२।५५८॥

‡. अपि सम्भावने।

§. हेठ विबाधायाम्। भ्वादिगण॥

हुए तथा स्त्री, परिग्रह, माया और मान इन को भली-भाँति समझ कर त्याग करके, अपना जीवन चलाते हैं।

४२. सु-संवुडो पंचहिं संवरेहिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठ-कायो सुइ-चत्त-देहो,
महाजयं जयइ† जन्न-सिट्ठं‡ ॥"

छाया—सुसंवृतः पञ्चभिः संवरैः,
इह जीवितमनवकांक्षन् ।
व्युत्सृष्टकायः शुचित्यक्तदेहः,
महायजं यजति श्रेष्ठयज्ञम् ॥"

अर्थ—जिस ने पाञ्चों संवरों से आश्रव बहुत भली प्रकार समेट (रोक) लिये हैं और इस संसार में जीने की इच्छा—आसक्ति से रहित है एवं काया की ममता त्याग दी है तथा

[४२] सु —अ, ऋ, ल। पंचहिं—उ, ऋ, ल। संवरेहि—ल। अ माणा—अ, ऋ, ल। °काया—अ, ऋ, ल। °देहा—अ, ऋ, ल। जयति—इ, उ।

†. आदेर्यो जः ॥८।१।२४५ ॥ हे० ॥

‡. यज्ञः सवोऽध्वरो यागः, सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ॥ —अमरकोष ॥२।७।१३॥
यज् देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु (भ्वा० उ० अ०) 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् ॥३।३।९०॥ पा०॥
यज्ञः स्यादात्मनि मखे नारायणहुताशयोः ॥
—हैमानेकार्थसंग्रहः ॥२।८०॥

देह की स्वच्छता के विचार छोड़ दिये हैं, वह ही इस महा-यज्ञ एवं सर्व-श्रेष्ठ यज्ञ को करता है ॥”

ब्राह्मण—

४३. “के ते जोई, के व ते जोइ-ठाणे ?

का ते सुया, किं व ते कारिसंगं ? ।

एहा य ते, कयरा सन्ति भिक्खू !

कयरेण होमेण हुणासि जोइं ? ॥”

---

[४३] य—इ, उ । *ठाणो—ख । व—इ, उ, न । एहाय—इ (यह पाठान्तर अकस्मात्-अशुद्धि के कारण प्रतीत होता है)।

†. व—अनुगम, और, तथा । —पाइअसद्दमहण्णवो ॥

‡. छन्दोवशाद् ह्रस्वः ।

§. हु दानादनयोः (जुहोत्यादिगण) ॥ आदाने चेत्येके । प्रीणनेऽपीति भाष्यम् । दानं चेह प्रक्षेपः । स च वैधे आधारे हविषेति समाचा-र्यते । 'अर्ति-स्तु-सु-हु-सृ-धृ-क्षि-क्षु-भा-या-वा-पदि-यक्षि-नीभ्यो मन् ॥' —उणादि ॥१।१४०॥

होमः सर्पिषि यज्ञे च ॥

—हैमानेकार्थसंग्रहः ॥२।३४७॥

पाठो होमश्चातिथीनां, सपर्या तर्पणं बलिः ।

एते पञ्च महायज्ञा, ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥ —अमरकोष ॥२।७।१४॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः १ पितृयज्ञस्तु तर्पणम् २ ।

होमो दैवो ३ बलिर्भौतो ४, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ५ ॥

—मनुस्मृति ॥३।७०॥

४६. "धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्न-लेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइ-भूओ पजहामि दोसं॥"

छाया—"धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्ति-तीर्थम्,
अनाविलम् आत्मप्रसन्नलेश्याकम् (कः)।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः,
सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम्॥"

अर्थ—"धर्म रूपी तालाब, ब्रह्मचर्य रूपी शान्ति-तीर्थ और आत्म-प्रसन्नता रूपी लेश्या का विशुद्ध निर्मल जल, जिस में स्नान करने पर विशुद्ध निर्मल बन कर और भली प्रकार शीतली-भूत होकर आत्म-दोषों को प्रकृष्ट रूप से दूर कर रहा हूं॥"

अध्ययन का उपसंहार—

४७. एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं,
महा-सिणाणं इसिणं पसत्थं।

---

1. पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ॥८।२।७४॥ हे०॥ क्वचिद् म्भोपि दृश्यते। बम्भणो॥

जहिं[†] सिणाया विमला विसुद्धा,

महा-रिसी उत्तमं ठाणं पत्ते; त्ति बेमि ॥

इअ हरिएसिज्जं नामं बारसं अज्झयणं समत्तं॥ १२॥

छाया—एतत्स्नानं कुशलैर्दिष्टं,

महास्नानमृषीणां (मान्यं) प्रशस्तम्।

यत्र स्नाता विमला विशुद्धाः,

महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः; इति ब्रवीमि ॥

इति हरिकेशीयं नाम द्वादशमध्ययनं समाप्तम् ॥१२॥

अर्थ—तत्त्व-ज्ञानियों ने वास्तविक रूप से यही स्नान कहा है, ऋषि लोगों ने इसी महा-स्नान को प्रशस्त माना है जहां स्नान करके महर्षि जन विशुद्ध निर्मल बन कर उत्तम स्थान—मोक्ष को प्राप्त करते हैं—ऐसा मैं कहता हूं ॥

यह हरिकेशी जी महाराज का वर्णन करने वाला 'हरिएसिज्ज' नामक बारहवां अध्ययन समाप्त हुआ ॥

---

[४७] जहिं—इ, उ, ऋ। पत्त—अ, इ।

†. त्रपो हि-ह-त्थाः ॥८।२।१६१॥ है० ॥

अह चित्त-सम्भूइज्जं तेरहमं अज्झयणं

(मूल)

१. जाई-पराजिओ खलु, कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि।
चुलणीए बम्भदत्तो, उववन्नो पउम-गुम्माओ॥

२. कम्पिल्ले सम्भूओ, चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि।
सेट्ठि-कुलम्मि विसाले, धम्मं सोऊण पव्वइओ॥

छाया—जातिपराजितः खलु, अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे।
चुलन्यां ब्रह्मदत्तः, उपपन्नः पद्मगुल्मात्॥
काम्पिल्ये सम्भूतः, चित्रः पुनर्जातः पुरिमताले।
श्रेष्ठिकुले विशाले, धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजितः॥

अर्थ—वस्तुतः, जाति से तिरस्कृत होने एवं हस्तिनापुर में निदान करने से ही सम्भूत का जीव पद्म-गुल्म देव-विमा से च्यव कर काम्पिल्य नगर में चुलनी रानी की कुक्षी ब्रह्मदत्त नामक बारहवें चक्रवर्ती-पने उत्पन्न हुआ, तथा चि का जीव पुरिमताल नगर के एक नगर-सेठ के विशाल व में उत्पन्न हुआ और एक महात्मा का धर्मोपदेश सुन क साधु बन गया॥

---

[1] जाई—अ, इ, ऋ, ल।

३. कम्पिल्लम्मि य नयरे, समागया दो वि चित्त-सम्भूया।
सुह-दुक्ख-फल-विवागं, कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥

छाया—काम्पिल्ये च नगरे, समागतौ द्वावपि चित्रसम्भूतौ।
सुखदुःखफलविपाकं, कथयतस्तावेकैकस्य ॥

अर्थ—तथा उसी काम्पिल्य नगर में चित्त सम्भूत दोनों का ही मेल हो गया और वे परस्पर एक दूसरे से कर्मों के फल-स्वरूप सुख दुःख की बातें करने लगे ॥

४. चक्कवट्टी महिड्ढिओ, बम्भदत्तो महा-यसो।
भायरं बहु-माणेणं, इमं वयणमब्बवी ॥

छाया—चक्रवर्ती महर्द्धिको, ब्रह्मदत्तो महायशाः।
भ्रातरं बहुमानेन, इदं वचनमब्रवीत् ॥

अर्थ—महान् यशस्वी महान् ऋद्धिमन्त ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अपने पूर्व जन्मों के भाई चित्त महात्मा को बड़े आदर से ये वचन बोला—

---

[३] कहिंति—इ, उ। इक्कमिक्कस्स—इ। एकमिक्कस्स—उ।

[४] चक्कवट्टि—इ। महिड्ढीओ—अ, इ, ऋ, ल।

†. द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥८।३।१३०॥ ॥हे०॥

‡. सेवादौ वा ॥८।२।९९॥ द्वित्वं भवति ॥ हे० ॥

§. वीप्स्यात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ॥८।३।१॥ हे० ॥ स्यादेः स्थाने ॥

[illegible]

५. "आसिमो भायरा दो वि, अन्नमन्न-वसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्न-हिएसिणो॥

छाया—"आवां भ्रातरौ द्वावपि, अन्योऽन्यवशानुगौ।
अन्योऽन्यमनुरक्तौ, अन्योऽन्यहितैषिणौ॥

अर्थ—"आप हम दोनों ही एक दूसरे के गाढ़ प्रेमी, एक दूसरे के हितैषी और एक दूसरे के वशवर्ती सदा साथ रहने वाले भाई रह चुके हैं।

([illegible])—

६. दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंग-तीरे £ सोवागा कासि-भूमिए॥

---

[५] आसीमु—अ, ल; आसिमो—इ, उ, ऋ। अन्नमन्नमणूरत्ता—अ, इ, ऋ। हितेसिणो—इ, उ।

[६] आसीमु—अ। तीराए—ऋ, ल।

†. तेनास्तेरास्यहेसी ॥८।३।१६४॥ हे०॥ अस्तेर्धातोस्तेन भूतार्थेन प्रत्ययेन सह आसि अहेसि इत्यादेशौ भवतः॥

‡. अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा ॥८।३।१०६॥ हे०॥ अस्मदः॥

§. अस इणीणो ॥२।१।३०॥ जैन०॥ भूतार्थे॥

£. 'अ' और 'उ' प्रतियों में अर्द्धविराम यहां लगाया है जो कि छन्द की दृष्टि से उपयुक्त नहीं। वास्तव में अर्द्धविराम सोवाग शब्द में सो के पश्चात् आता है। तथा 'ल' प्रति में 'तीराए' पाठ मान कर अर्द्धविराम यहीं पूरा कर लिया है किन्तु आगे के चतुर्थ पाद की छन्द-मात्राएं बढ़ गई हैं। 'ई' प्रति में अर्द्धविराम के चिह्न कहीं भी नहीं लगाए हैं।

दी सब लोगों के डेरे के पास बने और चाण्डालों के घरों में रहे।

१९. तीसे य जाईइ उ पावियाए,
वुच्छामु सोवाग-निवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा,
इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं॥

छाया—तस्यां च जातौ तु पापिकायाम्,
उषित्व श्वपाकनिवेशनेषु।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ,
इहकं तु कर्माणि पुराकृतानि॥

अर्थ—उस पापरूप अधम जाति के चाण्डालों के घरों में सब लोगों में घृणा पाते हुए हम दोनों रहे, और यहां जो उत्तम जाति मिली है यह भी पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल है।

---

†. चाणधारगो।

‡. ह भेदे।

§. अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः॥८।४।३९६॥ ६०॥ अपभ्रंशे॥ 'व्यत्ययश्च'॥८।४।४४७॥ इति सूत्र-व्यत्ययेन अर्द्धमागध्यामपि॥

£. दुगंछा—घृणा, निन्दा—पाइअ-लच्छी-नाममाला॥

२०. सो दाणिं* सि राय ! महाणुभागो,
महिड्ढिओ पुण्ण-फलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइ असासयाइं,
आदाण-हेउं अभिणिक्खमाहि ॥

छाया—स इदानीमसि राजन् ! महानुभागः,
महर्द्धिकः पुण्यफलोपेतः ।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्,
आदानहेतोरभिनिष्क्राम ॥

अर्थ—हे राजन् वह सम्भूत का जीव अब तू महाभाग्यशाली उस पुण्य के फल से युक्त महान् ऋद्धिमान् है। इन नाशवान् भोगों को छोड़ कर चारित्र ग्रहण करने के लिये घर से निकल चलो !

---

[२०] दाणि सिं—अ, इ, उ; दाणिसिं—ऋ, ल।

†. इदानीमो दाणिं ॥८।४।२७७॥ हे० ॥ शौरसेन्याम् ॥ 'व्यत्ययश्च' ॥८।४।४४७॥ इति सूत्रव्यत्ययेन अर्द्धमागध्यामपि ॥

‡. सिनास्तेः सिः ॥८।३।१४६॥ हे० ॥

§. मो वा ॥८।४।२६४॥ हे० ॥ शौरसेन्यामामन्त्र्ये सौ परे नकारस्य मो वा भवति ॥ व्यत्ययेनार्द्धमागध्यामपि ।

छाया—त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धनधान्यं च सर्वम्।
स्वकर्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परं भवं सुन्दरं पापकं वा॥

अर्थ—नौकर-चाकर और पशु-पंक्षी तथा ज़मीन-जायदाद एवं धन-धान्य सब को छोड़ कर, सिर्फ़ एक अपने कर्मों को साथ लेकर परलोक में, फिर चाहे वह अच्छा है या बुरा, विवश होकर वहां चला जाता है।

२५. तं एक्कगं तुच्छ-सरीरगं से,
चिई-गयं दहिय उ पावगेण।
भज्जा य पुत्तावि य नायओ य,
दायारमन्नं अणुसंकमन्ति॥

छाया—तदेककं तुच्छशरीरकं तस्य,
चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रापि च ज्ञातयो वा,
दातारमन्यमनुसंक्रामन्ति॥

---

[२५] इक्कगं—उ; एक्कं—अ, इ। पुत्तोवि—ऋ।

†. कुत्सिते ॥५।३।७४॥ पा० ॥ कः प्रत्ययः ॥

‡. वेदं० ॥८।३।८१॥ हे० ॥

§. तु समुच्चये पृ० ७३ †.

£. चावधारणे।

छाया—त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धन-धान्यं च सर्वं।
स्वकर्मद्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परं भवं सुन्दरं पापकं वा॥

अर्थ—नौकर-चाकर और पशु-पंछी तथा ज़मीन-जायदाद एवं धन-धान्य सब को छोड़ कर, बस एक अपने कर्मों को साथ लेकर परलोक में, फिर चाहे वह अच्छा है या बुरा, विवश होकर वहां चला जाता है।

२५. तं एक्कगं तुच्छ-सरीरगं से,
चिईगयं दहिय उ पावगेण।
भज्जा य पुत्तावि य नायओ य,
दायारमन्नं अणुसंकमन्ति॥

छाया—तदेककं तुच्छशरीरकं तस्य,
चितिगतं दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रापि च ज्ञातयो वा,
दातारमन्यमनुसंक्रामन्ति॥

---

[२५] इक्कगं—उ; एक्कं—अ, इ। पुत्तोवि—ऋ।

†. कुत्सिते ॥५।३।७४॥ पा० ॥ कः प्रत्ययः ॥

‡. वेदं० ॥८।३।८१॥ हे० ॥

§. तु समुच्चये पृ० ७३ †.

£. चावधारणे।

छाया—अभ्याहते लोके, सर्वतः परिवारिते।
'अमोघाभिः पतन्तीभिः, गृहे न रतिं लभामहे॥"

अर्थ—इस पीड़ित संसार में सब ओर से घिरे हुओं पर बिजलियां गिर रही हैं, अतः हम घर में कोई आनन्द नहीं पा रहे हैं॥

पुरोहित—

२२. "केण अब्भाहओ लोगो, केण वा परिवारिओ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया! चिन्तावरो हुमे॥"

[२२] हु मे—इ[1], उ।

†. स्वराणां स्वराः। ८।४।२३८॥ हे० ॥ धातुषु स्वराणां स्थाने स्वरा बहुलं भवन्ति॥

संस्कृत टीकाकारों एवं आधुनिक विद्वानों ने इसे 'हुमि' रूप जो कि प्राकृत-व्याकरणानुसार समुचित है, माना है। किन्तु प्राचीन प्रतियों में 'हुमे' रूप ही उपलब्ध होता है और upsala संस्करण ने भी यही 'हुमे' रूप स्वीकार किया है। 'इ' और 'उ' प्रतियों में जो 'हु मे' पाठ है सो 'चिन्तावरा हु मे' और 'इ' के अर्थानुसार 'चिन्तापरं हु मे' (आवेयनाम्) ऐसे पाठ होने चाहियें थे। अतः जब 'चिन्तावरो' पाठ निश्चित है तो इस के साथ 'हुमे' अथवा 'हुमि' समुचित है। किन्तु प्राचीन प्रतियों में 'हुमे' उपलब्ध होने से आर्ष मान कर यहां ऐसा पाठ रखा है।

१. 'इ' प्रति के मूलपाठ में तो 'हुमे' रूप है, किन्तु इसी के शब्दार्थ में 'हु मे' स्वीकार किया गया है जो कि लेखक का अभिप्राय प्रतीत होता है और मूलपाठ का रूप संशोधक महोदय (हर्मन जेकोबी) का आभासित है।

बिजलियां कहाँ गई हैं, जो न जाने कब आयु रूपी रज्जु को भस्म करके रख दें।

२४. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥

छाया—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः॥

अर्थ—जो जो रात्रि व्यतीत हो जाती है वह पुनः लौट कर नहीं आती। जो लोग पाप-कर्म करते हैं उनकी ये रात्रियां निष्फल जाती हैं।

२५. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥"

[२४,२५] पडिनियत्तई—अ, इ, ऋ,।

†. अधिकतर अर्थकार यहां अमोघ का अर्थ शक्ति-विशेष, शस्त्र-धारा व शर करते हैं जो कि कभी निष्फल नहीं होते और वे व्यतीत होने वाले दिन रात हैं जो क्षण-क्षण आयु रूपी रज्जु को काट रहे हैं; किन्तु हम ने कोषानुगामी यहां बिजली अर्थ किया है अर्थात् शनैः शनैः तो क्या! पता नहीं व्यतीत होने वाले दिन अथवा रात की वह कौन-सी घड़ी है जो इस आयु रूपी रज्जु को एक-दम भस्म करके रख दे।

‡. व्रज-नृत-मदां च्चः ॥८।४।२२५॥ हे० ॥

छाया—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
धर्मञ्च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥"

अर्थ—जो जो रात्रि निकल गई वह नहीं लौटती और धर्म करने वाले की ये रात्रियां सफल जाती हैं ॥"

पुरोहित—

२६. "एगओ संवसित्ताणं, दुहओ सम्मत्त-संजुया ।
पच्छा जाया ! गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥"

छाया—"एकतः समुष्य, द्वये सम्यक्त्वसंयुताः ।
पश्चात् जातौ ! गमिष्यामः, भिक्षमाणाः कुले कुले ॥"

अर्थ—"अच्छा पुत्रो ! हम और तुम दोनों सम्यक्त्व से संयुत होकर एवं देश-व्रतों का पालन करते हुए कुछ समय के लिये इकट्ठे भली प्रकार रह कर फिर दीक्षा लेकर कुल कुल में—नाना कुलों में (समुदानी) भिक्षा करते हुए विहरण करेंगे ॥"

कुमार—

२७. "जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स अत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे 'सुए सिया' ॥

---

[२६] संवसित्ता णं—अ ।

[२७] वत्थि—उ; वऽत्थि—अ, इ । जाणइ—इ, उ ।

छाया—"यस्यास्ति मृत्युना सख्यं, यस्यास्ति पलायनम् ।
यो जानीयात् न मरिष्यामि, स हि काङ्क्षेत् 'श्वः स्यात्' ॥

अर्थ—"'कल हो जाएगा' यह वह ही चाहे जो यह जाने कि मैं नहीं मरूंगा या जिसकी मृत्यु से मित्रता है अथवा मृत्यु आने पर जिस में भाग जाने की समर्थता है ।

२८. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो,
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो ।
अनागयं नेव य अत्थि किंची,
सद्धा-खमं णे विणइत्तु रागं ॥"

छाया—अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यावहे,
यं प्रपन्नौ न पुनर्भविष्यावः ।
अनागतं नैव चास्ति किञ्चित्,
श्रद्धाक्षमं 'णे' विनीय रागम् ॥"

---

[२८] णो—ल । किंचि— उ, अ ।

†. द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥८।३।१३५॥ हे० ॥ क्वचित

‡. च पक्षान्तरे पृ० ४५ †.

§. ······युक्ते, क्षमं[1] शक्ते हिते त्रिषु ॥ —अमर कोष ॥३।३।१४२॥
योग्ये शक्ते हिते क्षमम्—धरणिः

£. णे—पादपूर्ति में प्रयुक्त होने वाला अव्यय—पाइअसद्दमहण्णवो तथा अभिधानराजेन्द्र कोष ॥

---

१. युक्ते मान्तमव्ययम् इत्येके शक्तहितयोस्त्रिषु । —पीयूषव्याख्या ॥

छाया—"प्रहीणपुत्रस्य हि नास्ति वासः,
वासिष्ठि! भिक्षाचर्यायाः कालः।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं,
छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम्॥

अर्थ—"हे वासिष्ठि! यह ठीक जानो! कि पुत्रों से रहित अब मेरा घर में रहना नहीं होगा। [illegible] भी अब मेरा भिक्षाचर्या (सन्यास लेने) का समय (अवस्था) है। एक वृक्ष अपनी शाखाओं के साथ ही शोभा पाता है और शाखाओं के कट जाने पर लोग उसे ठूंठ ही कहते हैं।

३०. पंखा-विहूणो॰व्व जहेव पक्खी,
भिच्चं-विहीणो॰व्व रणे नरिन्दो।
विवन्न-सारो वणिओ॰व्व पोए,
पहीण-पुत्तो मि तहा अहं॰पि॥"

छाया—पक्षविहीन इव यथेह पक्षी,
भृत्यविहीन इव रणे नरेन्द्रः।

[३०] पंखाविहूणोव्व—ल। भिच्चाविहूणो—ऋ; भिच्चविहूणोव्व—ल; भिच्चविहूणो—अ। वणिओव्व—ल। अहंपि—अ, ऋ, ल।

†. वक्रादावन्तः ॥८।१।२६॥ हे० ॥ अनुस्वारो भवति।

‡. ऊर्हीन-विहीने वा ॥८।१।१०३॥ हे० ॥

मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ॥८।२।१८२॥ हे० ॥

पुरोहित—

३२. "भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ,
न जीवियट्ठा प-जहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
सं-चिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥"

छाया—"भुक्ता रसा भवति! जहाति मां वयः,
न जीविताथं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं,
संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥"

अर्थ—"हे भद्रे! ये रस भोग लिये हैं, और यह सशक्त अवस्था मुझे छोड़ती जा रही है। तथा एक बात और भी है कि 'शेष जीवन आराम से व्यतीत होगा' इस लिये मैं काम-भोगों का सर्वथा त्याग नहीं कर रहा हूं, अपितु अपने लाभ और हानि तथा सुख व दुःख का भली प्रकार विचार करते हुए इस साधु-वृत्ति का आचरण करने चला हूं ॥"

---

†. णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अमा ॥८।३।१०७॥ हे०॥ अस्मदः ॥

एमेए जाया पयहन्ति भोए,
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को ? ॥

छाया—"यथा च भोगी तनुजां भुजङ्गः,
निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः ।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्,
तावहं कथं नानुगमिष्याम्येकः ? ॥

अर्थ—"जैसे फणियर साँप अपने शरीर से उत्पन्न काञ्चली को छोड़ कर उस से मुक्त बन हुआ दूर भाग जाता है, इस प्रकार अपने ये पुत्र भोगों को त्याग रहे हैं; अब मैं पीछे रहा हुआ अकेला उनका अनुकरण कैसे न करूँ ? अब रही बात साधु-वृत्ति के कष्ट की, सो इस विषय में निवेदन है—

३५. छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया,
मच्छा जहा काम-गुणे पहाय ।
धोरेय-सीला तवसा उदारा,
धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति ॥"

[३४] एमेव—ट, उ ।

[३५] पहाए—ल । भिक्खारियं—अ; भिक्खाचरियं—ल ।

†. अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना ॥८।३।१०५॥ हे०॥

‡. नवादी वा ॥८।२।९९॥ हे०॥ छित्वम् ॥

छाया—"वान्ताशी पुरुषो राजन्! न स भवति प्रशंसनीयः ।
ब्राह्मणेन परित्यक्तं, धनमादातुमिच्छसि ॥

अर्थ—"हे राजन्! जो पुरुष वमन किये हुए को खाने वाला होता है, वह प्रशंसा के योग्य नहीं होता; और आप ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने की इच्छा कर रहे हैं।

३९. सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥

छाया—सर्वं जगद्यदि तव, सर्वं वापि धनं भवेत् ।
सर्वमपि ते अपर्याप्तं, नैव त्राणाय तत्तव ॥

अर्थ—यदि सारा जगत् और समस्त धन भी तुम्हारा हो जाए तो भी यह सब तुम्हारे लिये अपर्याप्त है और न ही वह तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ है।

४०. मरिहिसि रायं! जया तया वा,
मणोरमे काम-गुणे विहाय ।
एक्को हु धम्मो नर-देव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

छाया—"मरिष्यसि राजन्! यदा तदा वा,
मनोरमान् कामगुणान् [illegible]

अ-व्वग्ग-मणे अ-संपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

छाया—प्रान्तं शयनाऽऽसनं भजित्वा,
शीतोष्णं विविधं च दंशमशकम् ।
अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः,
यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ॥

अर्थ—सोने का स्थान एवं बैठने का स्थान जो साधारण एवं प्रतिकूल हो, उसका सेवन करके वहां होने वाली गरमी सरदी और नाना प्रकार के मच्छर मक्खी कीड़ी खटमल आदि सब-कुछ आकुल-मन से-रहित एवं हर्ष-रहित होते हुए जो साधक समभाव से सहन कर जाए, वास्तव में वह भिक्षु है ।

मान-बड़ाई से दूर रहना—

५. नो सक्कइमिच्छई न पूयं,
नो वि य वन्दणगं, कुओ पसंसं ।
से संजए सु-व्वए तवस्सी,
सहिए आय-गवेसए स भिक्खू ॥

[५] सक्कइमिच्छई—अ, इ, उ, ऋ, लृ । नोवि—ऋ । नो य—इ, उ । कओ—इ ।

छाया—येन पुनर्जहाति जीवितं,
मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति।
नरनारीं प्रजहात् सदा तपस्वी,
न च कौतूहलमुपैति स भिक्षुः॥

अर्थ—फिर जिस के सम्पर्क से संयमी जीवन घटता हो तथा कई प्रकार का मोह निरन्तर उदय में आता हो ऐसे स्त्री-पुरुषों के संसर्ग को त्यागी सदा भली प्रकार त्यागता रहे और कौतूहल को नहीं करे, वह वास्तव में भिक्षु है।

ज्योतिष आदि विद्याओं के प्रयोग का निषेध—

७. छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं,
सुमिणं लक्खण-दण्ड-वत्थुविज्जं।
अंग-वियारं सरस्स विजयं,
जे विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू॥

छाया—छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं,
स्वप्नं लक्षणदण्डवास्तुविद्याम्।
अङ्गविकारं स्वरस्य विजयं,
यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः॥

[७] विजयं—अ। जीवति—द; जीवई—अ।

†. वचनव्यत्ययः।

अर्थ—दन्त नखादि का छेदन-रहस्य, स्वर-ज्ञान, भूकम्प-विज्ञान, अन्तरिक्ष (ज्योतिष)-विद्या, स्वप्न-विद्या, लक्षण-विद्या, दण्ड-भेद और वास्तु-विज्ञान तथा अङ्ग-स्फुरण एवं अनेकों बोलियों का विचार—इत्यादि विद्याओं से जो अपनी आजीविका नहीं चलाता, वह वास्तव में भिक्षु है।

देहासक्ति-परिहार—

८. मन्तं मूलं विविहं वेज्ज-चिन्तं,
वमण-विरेयण-धूम-नेत्त-सिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

छाया—मन्त्रं मूलं विविधं वैद्यचिन्तां,
वमन-विरेचन-धूम-नेत्र-स्नानम्।
आतुरे स्मरणं चिकित्सिकां च
तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः॥

---

[८] विज्ज—ट। तिगिच्छं—ट।

†. यथा पृष्ठ २६१ †.

‡. गोणादयः ॥८।२।१७४॥ हे०॥ गोणादयः शब्दा अनुक्तप्रकृतिप्रत्यय-लोपागमवर्णविकारा बहुलं निपात्यन्ते॥

§. अन्ये ॥५।३।८५॥पा०॥ कन् स्यात्॥

अर्थ—(१) यन्त्र-मन्त्र, (२) मूल-कर्म, (३) नाना प्रकार के वैद्योपचार, (४) वमन, (५) विरेचन, (६) धूप-वत्ती, (७) नेत्रौषधि, (८) स्नान, (९) कष्ट में सम्बन्धियों का स्मरण और (१०) वार-वार छोटी-छोटी चिकित्सा—इन को ज्ञान से हेय समझ कर जो छोड़ता हुआ विचरण करे, वास्तव में वह भिक्षु है।

चापलूसी को छोड़ना—

९. खत्तिय-गण-उग्ग-रायपुत्ता,
माहण-भोइय विविहा य सिप्पिणो।

[९] खत्तियगण उग्गरायपुत्ता—इ। माहण भोइय—इ। भोई य—ल।

†. कोषकार मूल-कर्म का अर्थ वशीकरणादि[1] कर्म अथवा इस के लिये किया गया औषध-प्रयोग करते हैं, हिन्दी के अर्थकार इसका जड़ी-बूटी का प्रयोग करना अथवा बताना अर्थ करते हैं।

वास्तव में जो क्रिया साधक के मूलगुणों को आघात पहुँचाए वही मूल-कर्म है जैसे कि गोचरी के उत्पादन दोषों में १६वां मूल-कर्म दोष है अर्थात् पुत्रोत्पत्ति का उपाय, गर्भस्तम्भन अथवा गर्भपात की विधि बता कर आहार लेना, इसी प्रकार राग में आकर किसी भक्त को बताना एवं किसी को अपने वश में करने के लिये, अपना नया भक्त बनाने के लिये किंवा अपनी मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ऐसा कर्म करना जिस से मूल-गुणों में दोष लगे।

१. 'अमंतमूलं वसीकरणं' —प्राकृतसूक्तरत्नमाला गाथा १४ ॥

नो तेसिं वयइ सिलोग-पूयं,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

छाया—क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः,
ब्राह्मणा भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोकपूजां,
तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥

अर्थ—क्षत्रिय राजा, गण-तन्त्र के प्रधान, उग्र-कुल के कोतवाल आदि, राजकुमार, विशिष्ट ब्राह्मण एवं भोगिक पुरुष तथा अनेकों शिल्पी जो लोगों में प्रशंसा के पात्र हैं, स्वयं प्रशंसित बनने के लिये जो साधक उन की प्रशंसा एवं आदर-मान के कोई वचन नहीं कहता और इस को हेय समझ कर छोड़ता हुआ विचरण करता है, वह वास्तव में भिक्षु है।

संस्तव-परिचय का त्याग—

१०. गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा,
अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इह-लोइय-फलट्ठा,
जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥

छाया—गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः,
अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः ।

श्रेष्ठ भिक्षु का स्वरूप—

१५. वादं विविहं समिच्च लोए,
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्व-दंसी,
उवसन्ते अ-विहेडए सभिक्खू ॥

छाया—वादं विविधं समेत्य लोके,
सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी,
उपशान्तोऽविहेडकः (भवति) सन्भिक्षुः ॥

अर्थ—विद्वान् आत्मा श्रेष्ठ भिक्षु, लोक में प्रचलित अनेकों प्रकार के वादों को समझ कर, स्व-पर के हित के साथ खेद के मिटाने के मार्ग का अनुसरण करने वाला तथा बुद्धियुक्त सब शंकाओं कांक्षाओं विघ्न-बाधाओं एवं संकुचित विचारों का निराकरण करके विशाल-दृष्टि वाला, शान्त-चित्त, किसी व्यक्ति एवं समय का निरादर न करने वाला अर्थात् सब से गुण लेने वाला एवं समय का पूरा लाभ उठाने वाला होता है।

१६. अ-सिप्प-जीवी अ-गिहे अ-मित्ते,
जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के ।

[१५] वायं—ऋ। स भिक्खू—अ, इ, उ, ऋ, ल।
[१६] विप्पमुक्को—इ।
†. हेडृ अनादरे भ्वादिगण।